जैन भारती

वर्ष 54 • अंक 8 • अगस्त, 2006

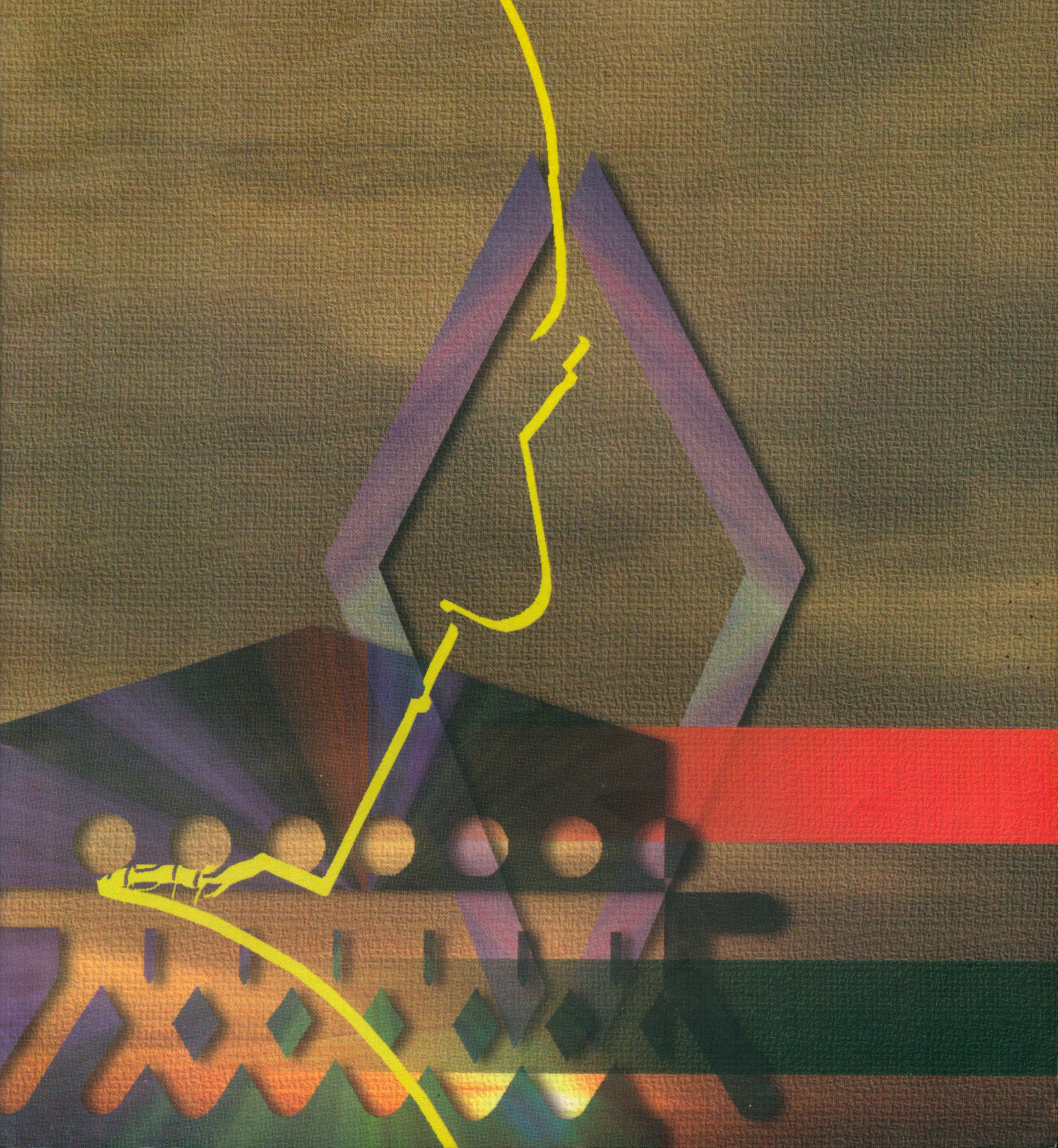

With best compliments from :

HTC TRADING PVT. LTD.

16, Bonfields Lane, KOLKATA 700001
Phones : 242-6141/9857/9426/9923
Fax : 91-33-2422004
e-mail : sirohia@mail.com

Wholesale Distributors & Dealers in

All Types of Tea Garden Stores, Spares, Agrochemicals, Growth Promoters, Jute-Zipper Bags, Coates-Rhino Stencil Ink Cutter Chaser, Nettlon Mesh, G-I Goat Proof Fencing, HM-HDPE Sleeves, Iron Materials, Neemcake, Cement, Coal.

1. Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides.
2. Micro Nutrients, Growth Promoters, Bio-Nutrients, Fertilizers.
3. Jute Canvas Bags, Zipper Bags, Poly Pouches.
4. H.M. Liners, Polythene Sleeves, Nursery Shades.
5. Welded Mesh, Wire Mesh, Nettlon, Structural Materials.
6. Ball & Roller Bearings, CTC Segments, CTC Cutters & Chasers, V-Belts, Weighing Scale.
7. Power Operated Bolo & Hand Operated Backpack Napsack Sprayers & Spares Parts.
8. Nylon Leaf Carrying Bags, Coir Leaf Bags & Plastic Basket.

For Your Requirements of Spare Parts for

1. Dryer, Heaters, Sorting Machines, Rolling Table, CTC Machines, Rotorvane, Miracle Grinder, Fluid Bed Dryers, ECP, Super ECP, Quality, Empire, Paragon Venetion.
2. C.I. Stove Tubes (Tested) Economiser Tube & Fire Bar.

Authorised Distributors & Dealers in Pesticides & Fertilizers of :

- ANKAR
- AVENTIS
- BASF
- BAYER
- CHEMINOVA
- DE-NOCIL
- EXCEL
- FCI
- GODREJ AGROVET
- HFC
- INDOFIL
- INDIAN POTASH
- NORTHERN
- RALLIS
- SPIC
- SHAW WALLACE
- SUVOCHEM
- SYNGENTA
- T STANES
- UPL
- WOCKHARDT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 54 • अगस्त, 2006 • अंक 8

विमर्श

11
डॉ. संतोष आचार्य
दार्शनिक परंपरा में समत्व चिंतन

21
डॉ. रामजीसिंह
भारतीय राष्ट्रीयता के वैश्विक आयाम

26
जैनेंद्रकुमार
अहिंसा : ज्वलंत हो जीवन में

•
आवरण
अडिग

अनुभूति

31
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
संतुलन का आधार : मैत्री, सहिष्णुता और शक्ति

36
मुनि बुद्धमल्ल
विवेक और विराग का सुदृढ़ मस्तूल

39
महात्मा भगवानदीन
किसमें है आपका सुख

43
कहानी
हिमांशु जोशी
तपस्या

46
कविता
कैलाश वाजपेयी की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
अहिंसा, स्वतंत्रता और हम

शीलन

49
साध्वी जयमाला
धर्म शरीरां नीपजे जो कुछ कीन्हो जाय

52
साध्वी शुभप्रभा
सुख, शांति और आत्मसंतुष्टि—रास्ता क्या हो ?

55
बालकथा
जलधर मलिक
अपनी औकात

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

विलाप करने से क्या होगा?

दुःख आने पर लोग विलाप करते हैं, इस विषय पर स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—किसी साहूकार ने गेहूं के कोठे भरे। ऊपर से उन पर ठप्पा मार, लिपाई-पुताई कर उन्हें मजबूत बना दिया। उसके एक पड़ोसी ने भी कोठे में धूल, खाद और कचरा डाल, उसके ऊपर ठप्पा मार, लिपाई कर उसे साफ कर दिया। गेहूं के भाव तेज हो गए—दुगुने हो गए।

साहूकार अपने कोठे को खोल गेहूं बेचने लगा। पड़ोसी ने भी ग्राहकों से गेहूं बेचने की साई (अग्रिम राशि) ली, उन्हें साथ लाया और कोठा खोला। उसके भीतर खाद निकली। तब वह रोने लगा। उसकी देखादेखी लोग भी रोने लगे। 'देखो! बेचारे के गेहूं निकलना था, और खाद निकली'—यह कहकर वे रोने लगे।

तब किसी समझदार ने पूछा—'अरे! तू ने इस कोठे के भीतर डाला क्या था?'

तब वह रोता हुआ बोला—'मैंने डाली तो खाद ही थी।'

तब वह बोला—'तूने खाद डाली थी, तो गेहूं कहां से निकलेगा?'

इस प्रकार जीव ने जैसे पुण्य-पाप का बंध किया है, वैसा ही उदय में आएगा। विलाप करने से क्या होगा?

मूल तत्त्व तो समझ में आ गया

कोई आदमी स्वामीजी से चर्चा कर रहा था। मूल तत्त्व तो उसकी समझ में आ गया, फिर भी वह बोला—'आप कहते हैं वह बात तो ठीक है, पर कुछ विषय पूरी तरह से समझ में नहीं आते।'

तब स्वामीजी ने दृष्टांत दिया—दस सेर चावलों का चरू चूल्हे पर चढ़ाया। ऊपर के चावलों को सीझा हुआ देख कर सयाना आदमी जान लेता है कि भीतर के चावल भी सीझ गए हैं और मूर्ख आदमी सोचता है—ऊपर के चावल तो सीझ गए, पर भीतर के चावल अभी सीझे नहीं हैं—यह सोचकर भीतर हाथ डालता है, तो उसका हाथ जल जाता है।

इसी प्रकार चतुर आदमी मूल तत्त्व समझ लेने पर जान लेता है कि दूसरे तत्त्व भी सही हैं। ●

प्राणी-मात्र के प्रति मित्रता का भाव विकसित होने से ही सेवा की भावना आकार ले सकती है। इसलिए व्यक्ति के रोम-रोम और सांस-सांस में मैत्री का भाव होना जरूरी है।

मैत्री की निष्पत्ति है—विश्वास। विश्वास की फलश्रुति है—आत्मौपम्य भाव, और आत्मौपम्य भाव की परणति अनेकता में एकता का साक्षात्कार और अनुभव है। जहां यह अनुभव प्रगाढ़ हो जाता है, वहां हिंसा के बादल छंट जाते हैं, परिग्रह का चक्रव्यूह छिन्न-भिन्न हो जाता है, शोषण और संग्रह की जड़ें हिल जाती हैं। हिंसा, शोषण और संग्रह की भावना तब पनपती है, जब व्यक्ति अपने-आप को असहाय, अक्षम और दुर्बल महसूस करता है। मैत्री-भावना के विकसित होने पर वह कभी अकेला नहीं रहता। अक्षम नहीं रहता, दुर्बल नहीं रहता। इसलिए मैत्री और सेवा के उचित मूल्यांकन तथा समाज में उनके समुचित अवतरण की अपेक्षा है।

—आचार्यश्री तुलसी

अहिंसा धर्म शाश्वत है। संप्रदाय अलग हो सकते हैं, पर अहिंसा के विषय में किसी से किसी का कोई मतभेद नहीं है। गायों का रंग अलग-अलग हो सकता है, पर दूध का रंग सफेद ही होगा। इसी तरह अहिंसा धर्म सदा सबके लिए एकरूप रहता है। साधु की हर क्रिया अहिंसा से प्रेरित और प्रभावित होती है। एक श्रावक का प्रयत्न भी हिंसा के अल्पीकरण का होना चाहिए। इसके लिए यह सूत्र निरंतर चिंतनीय है—मैं ऐसी कोई प्रवृत्ति न करूं, जिससे दूसरों का अहित हो और मेरी आत्मा भी पापबंध से भारी बने।

व्यक्ति का अपने नित्य-प्रतिदिन के जीवन में हिंसा से सर्वथा बच पाना मुश्किल है। किंतु, व्यक्ति अगर विवेक के साथ अपनी क्रियाओं को संपादित करे, तो काफी अंशों में हिंसा से बचाव हो सकता है।

अहिंसा एक व्रत है। वह एक जीवनशैली है। अहिंसा केवल धार्मिकों के लिए ही आवश्यक नहीं है, स्वस्थ और शांतिमय जीवन जीने के इच्छुक हर व्यक्ति के लिए, अहिंसा अनिवार्य है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

समाज की उन्नति और अवनति का अंकन उसके नैतिक विचार और आचार के आधार पर होता है। नैतिक आधार का मूल नैतिक मान्यता है। समाज की जैसी मान्यता होती है, वैसा ही उसका आधार होता है। जिसके जीवन की आवश्यकताएं जितनी कम होती हैं, वह उतना ही महान होता है; इस मान्यता ने समाज में त्याग की ओर आकर्षण उत्पन्न किया था। फलतः स्वार्थ-मुक्त लोग आगे आए।

जीवन की आवश्यकताएं जितनी अधिक होती हैं, उतनी ही सामाजिक उन्नति होती है, इस मान्यता ने समाज में भोग की स्पर्धा खड़ी कर दी है। अब कोई भी व्यक्ति इस दौड़ में पीछे रहना नहीं चाहता। हम भ्रष्टाचार करने वाले को दोष देते हैं, पर कितना आश्चर्य है कि भ्रष्टाचार की प्रेरणा जहां से फूटती है, उस ओर ध्यान नहीं देते।

नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठापना के लिए आवश्यक है कि जीवन की आवश्यकताओं को कम करें, सादा-सरल जीवन बिताएं तथा त्याग और निःस्वार्थ-वृत्ति को राष्ट्रीय संस्कृति का अभिन्न अंग माना जाए। राष्ट्र के इस दृढ़-संकल्प की घोषणा हो कि वह आवश्यकताओं को बढ़ाने की दौड़ में भाग नहीं लेगा। शिक्षा-पद्धति में आवश्यक परिवर्तन हो। उक्त संकल्प का औचित्य सिद्ध करने वाले पाठ पर्याप्त मात्रा में हों। इस प्रकार का दृढ़ प्रयत्न निश्चित परिणाम ला सकता है।

समाज की यह मान्यता रही है कि चाहे जितने कष्ट आ जाएं, पर सत्य और प्रामाणिकता अखंड रहने चाहिए। इसी मान्यता ने सच्चे और प्रामाणिक लोगों की सृष्टि की है।

——आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

अहिंसा, स्वतंत्रता और हम

स्वतंत्रता की अभीप्सा प्राणी-मात्र की स्वाभाविक वृत्ति है। मनुष्य में इसकी आकांक्षा सर्वाधिक होती है। मनुष्य ही एक सामाजिक प्राणी है। अतः उसका एक व्यवस्थित समाज भी होता है और उस समाज की अपनी सामाजिकता भी। अतः मनुष्य की स्वातंत्र्य-अभीप्सा अंततः समाज में भी सन्निहित हो जाती है और इसीलिए स्वतंत्रता व स्वेच्छाचारिता में हम फर्क कर सकते हैं। स्वतंत्रता के लिए पर्याप्त अवसर देते हुए यह बात सख्ती के साथ कही जाती है कि स्वेच्छाचारिता के लिए न समाज में कोई स्थान है और न इसकी इजाजत किसी व्यक्ति को दी जा सकती है। पर, दुर्भाग्य से आज अधिकांशतः स्वेच्छाचारिता का ही बोलबाला है। स्वतंत्रता उसके नीचे दबी पड़ी है, सिसकियां भरती नजर आती है। यत्किंचित रूप में तो ऐसा सदा ही होता रहा है, पर अपने वर्तमान पर यदि गौर करें तो हम पाते हैं कि स्वतंत्रता की अभिरक्षा के प्रति अब यत्किंचित प्रतिबद्धता ही बची है—अन्यथा अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग का स्वांग ही सर्वत्र नजर आता है। यह क्यों है? इस पर गहन विचार की जरूरत क्यों महसूस नहीं हो रही?

'स्वतंत्र'—शब्द पर एक सामान्य नजर डालें। हम मानेंगे कि अपना एक 'तंत्र' विकसित करना और उसी अनुरूप चलना ही 'स्वतंत्र' होना है। निजी तौर पर हर व्यक्ति ने अपनी तरह से अपना 'तंत्र' विकसित किया है और निर्बाध उसी अनुरूप वह चल सकता है। देखना इतना ही होता है कि उसका वह 'तंत्र' किसी अन्य के लिए बाधक न हो, टकराए नहीं। बिना किसी टकराहट के हर 'तंत्र' निर्बाध गतिशील रह सकता है। मैं स्वतंत्र हूं—यानी कि मेरा अपना बनाया एक 'तंत्र' है, ठीक इसी तरह दूसरे भी स्वतंत्र हैं—अपने बनाए 'तंत्र' के अनुरूप चलने को। इनमें टकराहट ही एक-दूसरे की स्वतंत्रता का हनन है और जब तक यह हनन नहीं होता है, उससे बचे रहा जाता है। तब तक किसी की भी स्वतंत्रता बाधित नहीं होती और सब-कुछ निर्बाध चलता रह सकता है। सामाजिक स्तर या राज्य-राष्ट्र-स्तर पर भी यही 'फार्मूला' है जो स्वतंत्रता की रक्षा के लिए कारक होता है।

यह जो कारक है, वही अब खंड-खंड विखंडित हो रहा है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र—हर स्तर पर इस विखंडन की प्रेत-छाया दिखाई दे रही है। न मेरी स्वतंत्रता सुरक्षित है और न किसी दूसरे की। असुरक्षा का घना-घटाटोप छाया पड़ा है। देश, दुनिया और आस-पास—आए दिन घटित होने वाली घटनाएं साक्षी हैं कि जान हथेली पर है। चारों ओर दुविधा

और द्वंद्व का खामोश पसारा है। यह खामोशी केवल तब कोहराम में तब्दील होती है, जब कहीं खून-खराबा हो जाता है। तब भय और दहशत की निःशब्द आहें-चीखें गूंजती हैं, पर सुनाई किसे देती हैं? ···आप और मुझे भी नहीं, क्योंकि उस खून में आप या मेरा कोई होता नहीं। तब 'व्यवस्था' की ओर से कुछ सख्त स्वर फूटते हैं और ऐसे नापाक इरादों को ध्वस्त कर देने का संकल्प प्रकट होता है। मनोबल बनाए रखने की 'सीख' दी जाती है। यह सब आए दिन की बात है। आए दिन मेरी, हम में से बहुतों की स्वतंत्रता इसी तरह आहत होती है।

हम फिर भी 'स्वतंत्र' हैं। स्वतंत्रता का उत्सव हम फिर भी मनाएंगे। पर, इस बार यह उत्सव मनाते हुए हमें उन बुनियादी बातों की ओर गौर करना चाहिए जिनको टालते रहने से ही इस अवस्था तक हम आ पहुंचे हैं और लगने लगा है कि यह 'बीमारी' अब लाइलाज हो गई है। 'असहाय' हो जाने जैसी इस अवस्था को तोड़ने की जरूरत है। इसे तोड़ा जा सकता है—यदि वैयक्तिक रूप में, सामाजिक स्तर पर और अंततः 'व्यवस्था' के स्तर पर दृढ़तापूर्वक हम कारगर कदम उठाने को तैयार हो जाएं। इस असहाय अवस्था में भी उठ खड़ा करने की प्रेरक शक्तियां हमारे ही समाज में अभी विद्यमान हैं।

अहिंसा और स्वतंत्रता में समान आस्था रखने वाले आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—'अहिंसा स्वतंत्रता का प्राण है। गुलामी स्वयं हिंसा है। भगवान महावीर ने जैसे प्राणीवध को हिंसा माना है, दास प्रथा को भी हिंसा माना है।' आचार्यश्री महाप्रज्ञजी अपरिग्रह, अभय और अहिंसा को एक पूरा वृत्त मानते हैं। यही वृत्त है—जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्र-राज्य की स्वतंत्रता का संपोषक हो सकता है।

यह कौन नहीं जानता कि आज सर्वाधिक तौर पर अन्याय का मुकाबला हिंसा से ही हो रहा है। लेकिन, हमारे समाज के विचारशील जन यह मानते रहे हैं कि अन्याय करने वाले की हिंसा की तुलना में यदि प्रतिकार करने वाले की हिंसा कुछ कम पड़ जाए तो उसकी सारी हिंसा बेकार हो जाती है। फिर यह खतरा भी तो रहता ही है कि एक 'हिंसा' यदि विजयी भी हो जाए तो पराजित पक्ष में प्रतिशोध की भावना अधिक बलवती हो उठती है। तब वह अधिक क्रूरता से हिंसा की तैयारी में लग जाता है। हिंसा का यह सिलसिला टूटता नहीं।

इस दृष्टि से महात्मा गांधी एक प्रबल उदाहरण हैं जिन्होंने हिंसा के शमन के लिए कभी भी प्रतिहिंसा का सहारा नहीं लिया। गांधीजी ने अहिंसा की शक्ति को न केवल उजागर किया, उन्होंने अहिंसक शक्ति के बल पर उन्मादग्रस्त हालातों को भी बदल डाला। अहिंसा के बारे में गांधीजी कहते हैं—'सत्य और अहिंसा केवल मठों-मंदिरों के लिए सुरक्षित सद्‌गुण नहीं हैं। वे जितने न्यायालयों और विधानमंडलों के लिए आवश्यक हैं, उतने ही बाजारों में भी अनिवार्य समझे जाने चाहिए।' महात्मा गांधी इस प्रसंग में आगे कहते हैं—'अहिंसा का जो स्थूल रूप आज हमारे सामने रखा जाता है, वही केवल अहिंसा नहीं है। किसी प्राणी की हत्या न करना तो अहिंसा है ही, किंतु वह तो बाहर से दिखाई देने वाला यत्किंचित रूप है। दरअसल प्रत्येक कुविचार हिंसा है। उतावलापन हिंसा है। मिथ्याभाषण हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। दूसरों के लिए आवश्यक चीज जबरदस्ती अपने कब्जे में रखना हिंसा है।' वे आगे कहते हैं—'अहिंसा जब क्रियाशील बनती है, तब वह अद्‌भुत गति से गतिमान होती है और वह एक चमत्कार बन जाती है। इससे जनमानस अनजाने ही प्रभावित हो जाता है और वह जाग उठता है। ···हमारे अहिंसा-भक्तों के विषय में बड़े ही दुख की बात है कि उन्होंने अहिंसा का अंधानुकरण करके, अंधी परिभाषा को स्वीकार करके जनता में सच्ची अहिंसा का प्रचार करने में बड़ी बाधा पैदा की है। मनुष्यों और पशु-पक्षियों को दी जाने वाली यंत्रणाएं, स्वार्थ के लिए किया जाने वाला उनका शोषण, उन पर किए जाने वाले अत्याचार, उनके स्वाभिमान की, की जाने वाली हत्या आदि ऐसी बातें हैं जो केवल सद्‌बुद्धि से की जाने वाली जीव-हत्या से कई गुना हिंसक हैं।'

इस तरह हम पाते हैं कि आचार्यश्री महाप्रज्ञजी और महात्मा गांधी के इन उत्प्रेरक दिशा-सूचकों से हम ऐसा 'तंत्र' विकसित कर सकते हैं, जो हमें वास्तव में 'स्वतंत्र' बना सकता है। स्वतंत्रता दिवस पर कुछ ऐसा सोचना समय का तकाजा है और यही अभीष्ट भी होगा।

—शुभू पटवा

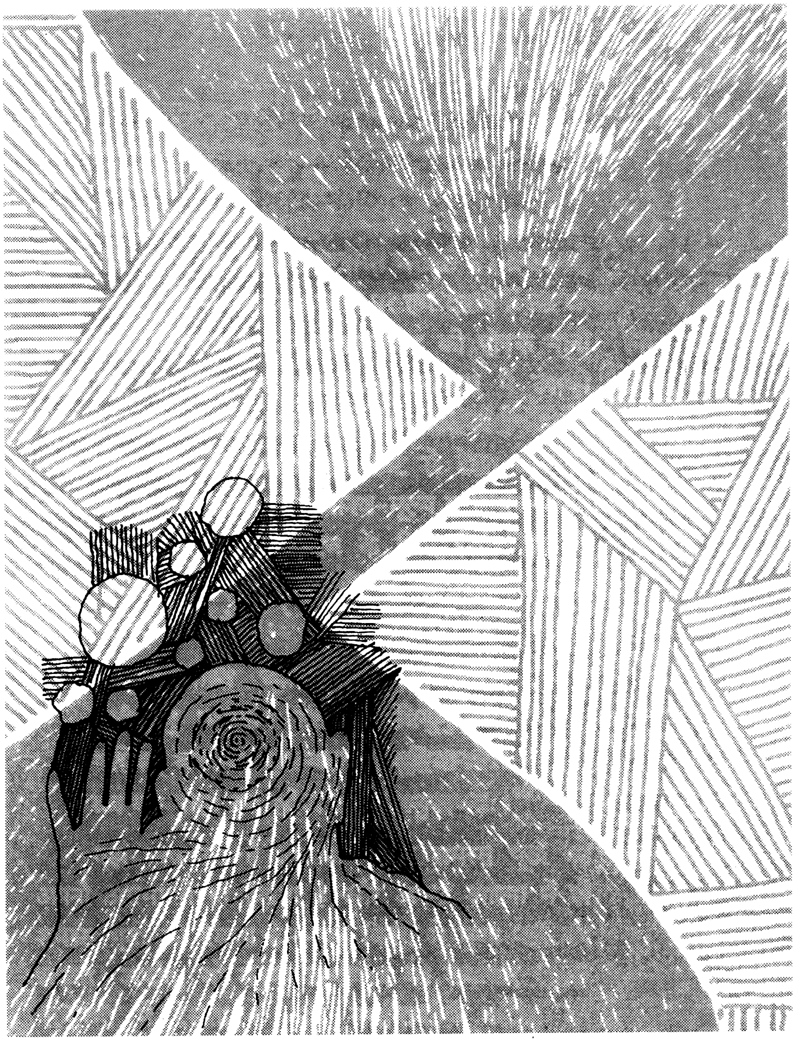

विमर्श

अपनी अविवेकशीलता को अनुभव करना व्यक्ति के विवेक के विकास की ओर आगे बढ़ना है। अपूर्णता की सजग अनुभूति इस बात की द्योतक है कि आत्मा सचेत है और जब तक वह सचेत है, वह सुधर सकती है, जैसे कि जीवित शरीर किसी जगह चोट खा जाने या कट जाने पर फिर स्वस्थ हो सकता है। मानव-प्राणी पश्चात्ताप के संकटकाल में से गुजरकर उच्चतर दशा की ओर बढ़ता है।

—एस. राधाकृष्णन

समत्व-साधना मोक्ष-प्राप्ति का अनिवार्य अनुबंध है। इसलिए समत्व-चिंतन समस्त भारतीय दर्शन में पर्याप्त रूप से हुआ है। जैसे बौद्धों में मध्यस्थ दृष्टि के रूप में, जैन दर्शन में समता के रूप में, गीता में समत्वयोग के रूप में और उपनिषदों में निष्कामभाव के रूप में समत्व-चिंतन किया गया है। साथ ही भारतीय दर्शन में समत्वयोगी—चाहे वह बौद्धों का त्रिविध हो, या जैनों का वीतराग एवं गीता का कर्मयोग हो, या उपनिषदों का निष्काम कर्म—इन सभी की एकमात्र शिक्षा समत्व की साधना करना ही है।

दार्शनिक परंपरा में समत्व चिंतन

डॉ. संतोष आचार्य

उत्तम उपासक वह है जो मनुष्य, पशु-पक्षी,
सबसे समान प्रेम करता है।
सर्वोत्तम उपासक वह है जो छोटे-बड़े
समस्त पदार्थों से एक समान प्रेम करता है।[1]

—कॉलरिज

उपरोक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि मनुष्य और पशु-पक्षी आदि समस्त प्राणियों के प्रति समान भाव रखना समत्व या समता है। साथ ही, यहां समस्त पदार्थों के प्रति भी समत्व-दृष्टि रखने की प्रेरणा दी गई है। वस्तुतः कॉलरिज की उपरोक्त पंक्तियां पाश्चात्य दार्शनिक लाइबनिट्ज की तरह उनके सर्वचैतन्यवादी होने को प्रमाणित करती हैं। एक सर्वचैतन्यवादी ही समस्त प्राणियों के साथ-साथ समस्त पदार्थों के प्रति भी समानता की दृष्टि रख सकता है। उनका ऐसा दृष्टिकोण इसलिए होता है, क्योंकि सर्वचैतन्यवाद की मान्यता है कि सृष्टि का कोई भी पदार्थ अचेतन नहीं है, बल्कि समस्त पदार्थ न्यूनाधिक रूप से चेतनामय हैं। इस प्रकार समत्व के दृष्टिकोण का क्षेत्र अतिव्यापक होने के कारण व्यवहारिक रूप से इसकी अनुपालना करना कठिन प्रतीत होता है। लेकिन, भारतीय दार्शनिक परंपरा में दृष्टिपात करें, तो हम पाते हैं कि यहां समत्व या समता का जो दृष्टिकोण है, वह व्यवहारिक होने के साथ-साथ सहज भी है, क्योंकि आत्मज्ञानोपलब्धि हो जाने के पश्चात् समता या समत्वभाव व्यक्ति के व्यवहार में सहज ही परिलक्षित होता है।

वस्तुतः भारतीय दर्शन ने समस्त मानवों को सदैव समानता के स्तर पर ही देखा है। जगत् में कर्म करते हुए श्रेष्ठ जीवन बिताना एवं जन्म-मरण के चक्र से, निकलकर मुक्त होना मानव-जीवन का लक्ष्य बताया गया है। यहां तात्पर्य यह है कि सभी मनुष्य पहले बिना किसी भेद-भाव के मानव-धर्म को जानें, मानें एवं तदनुसार आचरण करें, फिर उसका पालन करते हुए परिवार के लिए उचित जीविकोपार्जन को चुनें एवं संयमित भौतिक सुखों का उपभोग करें। यह सब इस प्रकार करे कि मरणोपरांत उसे पुनर्जन्म एवं पूर्वजन्म के बंधन में न पड़कर मोक्ष-प्राप्ति हो। मानवीय समाज में समता और व्यवस्था को बनाए रखने के लिए भारतीय दर्शन की यह विचारधारा इतनी व्यावहारिक, वैज्ञानिक, सहज और प्रेरणादाई है कि इसमें प्रत्येक मनुष्य को आत्मविकास हेतु प्रेरित करते हुए भी उसे सांसारिक सुखों से वंचित भी नहीं किया जाता।

भारतीय दर्शन की समत्ववादी विचारधारा को पूर्ण स्पष्ट करने हेतु भारतीय दर्शन के आदि स्रोत वेद व उपनिषद् में दृष्टिपात करें तो वहां हमें ऐसी सैकड़ों ऋचाएं मिलती हैं, जो सब मनुष्यों में समत्वभाव रखकर जीवनयापन की प्रेरणा देती हैं। साथ ही, यहां विवेचित बहुवचनात्मक प्रार्थनाएं यह सिद्ध करती हैं कि प्राणी-मात्र का कल्याण हो। उनमें ऊंच-नीच एवं जातिगत भेद-भाव की कल्पना बिलकुल भी नहीं की जाती। जैसे—

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो।
वातृधुः सौभगाय।[2]

तात्पर्य यह है कि मनुष्यों में न कोई बड़ा है, न कोई छोटा—वे सब बराबर के भाई-बंधु हैं। वे सब मिलकर लौकिक तथा पारलौकिक उत्तम ऐश्वर्य हेतु प्रयास करें। इसी संदर्भ में वहां कहा गया है—

रुंच नो धेहि ब्राह्मणेषु रुंच राजसु नस्कृधि।
रुंच विश्येषु शुद्रव्युर्माय धेहि रुचा रुचम्।[3]

अर्थात् हे महेश्वर! आप हम लोगों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों में पारस्परिक प्रीति को दीजिए। इसी प्रकार समत्वभाव को व्यक्त करते हुए माना जाता है कि—

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या।[4]

पृथ्वी हमारी माता है और हम सब उसके पुत्र हैं। वेदों की उपरोक्त ऋचाओं के समत्व आधारित भावों के बाद उपनिषदों को देखें तो वहां भी मनुष्यों के बीच में कोई भेदभाव नहीं किया गया है। सभी मनुष्यों को **अमृतस्य पुत्राः** कहा गया है। साथ ही यह माना गया है कि पृथ्वी के सभी मानव तात्त्विक दृष्टि से एक ही हैं, क्योंकि उन सभी की आत्मा का यथार्थ स्वरूप सर्वात्मा ब्रह्म है। इस प्रकार उपनिषदों में मानवीय साम्य का एक नया पहलू सामने आता है जो मानता है कि मनुष्यों में आपसी भेदभाव व वैमनस्य रखना अज्ञान के प्रतिफल हैं। दूसरे शब्दों में यह अपने से अपने का ही भेद व विरोध करने के समान है, क्योंकि सभी मनुष्य अंततः एक ही सत्ता का व्यष्टि स्वरूप हैं। यास्क के शब्दों में—**एतन्नरराष्ट्रमिव**[5]—अर्थात् जैसे मनुष्य और राष्ट्र एक ही अस्तित्व की द्विविध कल्पना हैं, वैसे ही मनुष्य व ब्रह्म एक ही अस्तित्व का सार हैं। अतः यहां व्यष्टि का समष्टि में साम्य या एकीकरण कर मानव-मूल्यों व समत्व-दर्शन को प्रतिपादित किया गया है। उपनिषद् आधारित श्रीमद्भगवद्गीता के दर्शन में मानवीय समत्व की भावना को आगे बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है—**स्त्री, शूद्र व वैश्य एवं समस्त पाप-योनि वाले मेरी उपासना से परमगति को पा सकते हैं।**[6] गीता में सृष्टि की रचना गुण व कर्म के आधार पर की गई है। वर्णगत भेदभाव भी गुण व कर्म के कारण ही है।

इस परिप्रेक्ष्य में औपनिषद् दर्शन पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि वहां परमगति या मोक्ष के लिए वर्णगत व लिंगगत भेदभाव नहीं किया गया है। वर्णगत व लिंगगत भेदभाव नहीं होने के कारण ही स्त्री व शूद्र को वेद पढ़ने का समान अधिकार प्राप्त था (आपद् धर्मसूत्र 11.19)। वर्ण-व्यवस्था के संदर्भ में उपनिषद्-काल में दृष्टिपात करें तो वहां वर्ण-विभाजन होते हुए भी वर्णों में परस्पर कटुता और विद्वेष नहीं था, न ही वर्ण-व्यवस्था अत्यंत कठोर थी। इसके कई कारण थे—जैसे वर्णों का विभाजन सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से क्रियात्मक व श्रमगत था, जिसमें सभी वर्ण अपने-अपने स्थान पर महत्त्व रखते थे। उनमें ऊंच-नीच का भाव नहीं था। दूसरे, वहां वर्ण-व्यवस्था में व्यक्तिगत कठोरता अनुभव करने पर वर्ण-परिवर्तन संभव था। इसके साथ ही समाज में आदर किसी वर्ण में जन्म लेने से नहीं, अपितु शील और चरित्र के कारण होता था। इन सब तथ्यों का मूल औपनिषद् भाव यह था कि वर्णों का विभाजन केवल व्यावहारिक है—पारमार्थिक नहीं, क्योंकि एक ही परमतत्त्व—ब्रह्म सभी मनुष्यों में समान रूप से व्याप्त है। अतः मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई वास्तविक भेद नहीं है। इसलिए परममूल्य—मोक्ष की साधना करने का समस्त वर्णों को समान अधिकार है।

धर्म और दर्शन के उच्चतम सिद्धांत केवल ब्राह्मणों की विरासत नहीं थे, बल्कि गूढ़ प्रश्नों के समाधान के लिए कभी-कभी ब्राह्मण भी क्षत्रियों के पास जाते थे। उक्त वर्णगत उदारता के अनेक उदाहरण उपनिषदों में मिलते हैं, जैसे 'सत्यकाम जाबाल' के वर्ण व जाति के लापता होते हुए भी उसे मोक्ष-साधना का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार मिथिला के राजा जनक और काशी के अजातशत्रु ऐसे क्षत्रिय राजाओं के उदाहरण थे जिन्होंने ऋषियों को भी ज्ञानोपदेश दिया (छांदोग्य उपनिषद् 5/3-7, वृहदारण्यक उपनिषद् 2/1)। इनके साथ ही राजा जैबलि प्रवाहरण के पास श्वेतकेतु के पिता गौतम ब्रह्म-विद्या के लिए गए थे। क्षत्रिय राजा अश्वपति कैकय भी इस क्रम का उदाहरण है, जिनके पास वेदों के महान पंडित भी 'वैश्वानर ब्रह्म' का उपदेश सुनने के लिए पहुंचते थे (छांदोग्य उपनिषद् 5/11)। इस प्रकार

उपरोक्त विवेचन में उपनिषदों के वर्ण-विभाजन का आधार समाज-कल्याण व वर्णों के प्रति सहिष्णुता व वर्णगत उदारता स्पष्ट है। दूसरे शब्दों में उपनिषदों में वर्णगत समता व समन्वय ही वर्ण-व्यवस्था का मूलाधार था।

अतः स्पष्ट है कि औपनिषद् दृष्टि से मोक्ष ही मानव-जीवन का साध्य है और मोक्ष-प्राप्ति का द्वार समस्त मानव-जाति के लिए समान रूप से खुला है। इसके लिए कहीं पर यह नहीं कहा गया कि अमुक धर्म, वर्ण या जाति वाला ही मोक्ष का अधिकारी है। जैसा कि बताया जा चुका है—'सत्यकाम जाबाल', जिसके गोत्र का ज्ञान नहीं था, फिर भी उसकी उत्कट मुमुक्षा को देखते हुए उसे इस क्षेत्र में प्रवेश की अनुमति देना उपनिषदों की उपरोक्त मान्यता को सिद्ध करता है।

वर्तमान में धर्म-निरपेक्षता, जो भारतीय लोकतंत्र का आधार है, उसका मूल उपनिषद् दर्शन माना जा सकता है। उपनिषदों में धर्म-निरपेक्षता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यहां सगुण ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता को सापेक्ष माना गया है और सगुणोपासना की बजाए निर्गुणोपासना को बेहतर माना गया है। उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म की सत्ता को ही निरपेक्ष माना गया है। इस बात को लेकर अनेक आलोचक यह आरोप करते हैं कि जो दर्शन सगुण ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता को—जो नैतिकता की प्रेरक है—पूर्ण स्वतंत्र नहीं मानता, वहां नैतिकता व मानवीय समत्व की भावना धूमिल प्रतीत होती है। ऐसा दर्शन व्यावहारिक न होकर केवल अध्यात्मवादी होकर पलायनवाद को प्रोत्साहन दे सकता है, लेकिन यह आलोचना पूर्णतया सदोष व निराधार है। वस्तुतः ईश्वर की सत्ता को सापेक्ष मानने एवं उसके सगुण रूप की जगह निर्गुण रूप की उपासना को अधिक महत्त्व देने के पीछे उपनिषदों का मूल भाव नैतिकता व मानवीय समत्व को प्रोत्साहन देने का है, क्योंकि सगुणोपासना में उस परमतत्त्व का कोई-न-कोई भौतिक प्रतीक होना अनिवार्य होता है—जैसे मूर्ति (क्रॉस, गुरुग्रंथ साहब, मजार आदि) और जहां परमतत्त्व का मूर्तिकरण हो जाता है, वहां धार्मिक भेदभाव भी प्रारंभ हो जाते हैं। वहीं से मंदिर व मस्जिद का विवाद भी प्रारंभ हो जाता है और मानवीय नैतिकता की जगह धर्म व जिहाद को लेकर अमानवीयता या अनैतिकता का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए उपनिषदों में निर्गुण ब्रह्म को ही संपूर्ण ब्रह्मांड का नियामक माना गया है, जिसकी प्राप्ति के लिए कोई भी धर्म-बंधन नहीं है। जबकि सगुणोपासना में धार्मिक सीमा होती है और कुछ वर्ग-समुदाय ही उसमें महत्त्व रखते हैं। इसी कारण उपनिषद् निर्गुण उपासना व निर्गुण सत्ता को ही पूर्ण निरपेक्ष मानते हैं—क्योंकि वहां कोई धर्म, लिंग, वर्ण या वर्ग विशेष महत्त्व नहीं रखता, बल्कि यह समस्त मानव-जाति को समत्व भाव से देखता है। इसके पीछे मूल भाव यह है कि तात्त्विक दृष्टि से सभी जीव उस एक तत्त्व का ही अंश हैं। अतः जब उपनिषदों का यह मरहम मानव-मस्तिष्क पर लगा दिया जाता है तो वह समस्त मानव-जाति के प्रति सहिष्णु, नैतिक व समत्वभाव रखता है। इस प्रकार निर्गुण सत्ता की निरपेक्षता से नैतिक मूल्य तथा समत्वभाव में प्रगाढ़ता आती है।

धर्म-निरपेक्षता के संबंध में उपनिषद् आधारित ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता में भी समस्त मानवों को आह्वान करते हुए कहा गया है कि—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव तामेव विदधाम्यहम्।।[7]

अर्थात् भक्त किसी भी मजहब, धर्म या जाति की यदि श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है तो ईश्वर उस रूप में उसकी श्रद्धा को अचल बना देता है। अतः स्पष्ट है कि धर्म-निरपेक्षता केवल एक नारा ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति में इसे प्राचीनकाल से ही पूजा जाता रहा है।

धर्म व जाति के साम्य के बाद लिंगसाम्य या स्त्री-पुरुष समानता के बारे में उपनिषद्-दर्शन देखें तो यह तथ्य स्पष्ट होता है कि उपनिषद्-दर्शन में स्त्री-पुरुष को तत्त्व-ज्ञान या मोक्ष-प्राप्ति का समान हक है। उदाहरण के लिए वृहदारण्यक उपनिषद् में एक उल्लेख आया है कि ऋषि याज्ञवल्क्य के दो पत्नियां थीं—कात्यायनी और मैत्रेयी। याज्ञवल्क्य जब अपने आश्रम को छोड़कर जाने लगे तो उन्होंने मैत्रेयी से कहा—'देखो, मैं इस गृहस्थाश्रम में पड़े रहना नहीं चाहता, मैं ऊपर उठना चाहता हूं। आओ, कात्यायनी के साथ तुम्हारा निपटारा कर दूं।' तब उनकी पत्नी मैत्रेयी ने कहा कि इस सांसारिक वित्त और सुख-ऐश्वर्य से मैं अमर नहीं हो सकती। इसलिए इन्हें लेकर मैं क्या करूंगी, मुझे तो अमर होने का अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति का जो रहस्य आप जानते हैं—उसी का उपदेश दीजिए। इस प्रकार मैत्रेयी द्वारा अमरता अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति का पथ चुनना यह प्रमाणित करता है कि उपनिषदों में लिंग-समानता व स्त्री-स्वतंत्रता के भाव निहित हैं। मैत्रेयी के साथ ही

उपनिषदों में ऐसे और भी स्त्री-पात्रों का विवेचन किया गया है जो लिंग-समानता को प्रस्तुत करते हैं। उन्हीं पात्रों में से एक स्त्री-पात्र गार्गी थी, जो ज्ञानप्रधान गोष्ठियों में पुरुषों के बराबर बढ़-चढ़कर भाग लेती थीं। अतः स्त्री-पुरुष को समान दर्जा देने की जो बात पश्चिमी दर्शन आज करते हैं, उसे भारतीय संस्कृति अपने जन्म-काल से ही मानती आई है। कन्याभ्रूण-हत्या को आज अवैधानिक माना गया है। इसका मूल आधार भी उपनिषद् हैं, क्योंकि उपनिषदों में भ्रूण-हत्या को महापातक माना गया है।

अतः पाश्चात्य दर्शन, जो वर्तमान में स्त्री-स्वतंत्रता की बात करता है, भारत में तो वैदिक काल से ही स्त्री को उन्मुक्त व स्वतंत्र जीवन प्राप्त था। उस पर प्रतिबंधों का बोझ नहीं था, कन्या का विधिवत् उपनयन होता था और उसे शिक्षा का पूरा अधिकार था। यह बात इससे प्रमाणित होती है कि कई वैदिक सूक्तों की रचनाएं ऋषि-स्त्रियों ने की थी—अपाला, घोषा, विश्ववारा आदि की गणना वैदिक ऋषियों में होती रही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में मनुष्य-मनुष्य के भेद को छोड़कर समानता व एकता का जो पाठ पढ़ाया जाता है तथा सहिष्णुता व धर्म-निरपेक्षता को बराबर बढ़ावा दिया जाता है, उसमें उपनिषदों की महती भूमिका है। लेकिन, उपनिषदों के संदर्भ में एक संदेहपूर्ण स्थिति भी उत्पन्न होती है, क्योंकि उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है और ब्रह्म ही संपूर्ण सृष्टि में समाविष्ट है तथा ब्रह्म ही इस सृष्टि का सर्जन व वर्जन करता है। ब्रह्म ही विश्व की आत्मा है, इसलिए वह विश्वात्मा है। इसी एक आत्म-तत्त्व ब्रह्म का साक्षात्कार करना मनुष्य का परम साध्य माना गया है और इस साध्य को साधने का औपनिषद् सेतु अध्यात्म-विद्या माना जाता है। उपनिषदों के इस एकतत्त्ववाद बनाम अध्यात्मवाद के द्वारा मानवीय नैतिक मूल्यों व सामाजिक समत्व को विवेचित करना टेढ़ी खीर प्रतीत होता है। क्योंकि उपनिषदों में अध्यात्मवाद की मान्यता है कि वह एक तत्त्व ही संपूर्ण का नियामक है और उसी एक से एकात्म होना मानवीय लक्ष्य है, तो इस दृष्टि से उस एक तत्त्व के द्वारा मानवीय समत्व व समाज में आचार-नीति की व्यवस्था करना विरोधात्मक प्रतीत होता है। इसलिए डॉ. श्वेट्जर की यह आपत्ति है कि आत्मज्ञान या अनंत सत्ता के साथ एकात्म होना 'एक विशुद्ध आत्मिक प्रक्रिया है। जिसका आचार-नीति से कोई संबंध नहीं है।'[8] वस्तुतः इस प्रकार की आपत्ति उपनिषदों के सम्यक् अध्ययन के अभाव का परिणाम है, क्योंकि ऐसी मान्यता रखने वाले विचारक उपनिषदों के—'तत्त्वमसि'—वाक्य और उसमें निहित भाव को भूल जाते हैं। वास्तव में उपनिषदों की तत्त्वमसि एक महान उक्ति है जो सक्रिय सेवा की नैतिकता से जुड़ी हुई है। इसी संदर्भ में एक संस्मरण स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि अपनी भारत-यात्रा की समाप्ति पर डॉ. पॉल ड्यूसेन ने मुंबई में एक सभा में भाषण देते हुए कहा था कि—

'बाइबल में ठीक ही इस सिद्धांत को नैतिकता का सर्वोच्च नियम बताया गया है कि अपने पड़ोसी को अपने ही समान प्यार करो। किंतु मैं ऐसा क्यों करूं? क्योंकि प्रकृति की व्यवस्था के अनुसार तो मैं केवल अपने ही सुख-दुख का अनुभव करता हूं, अपने पड़ोसी के सुख-दुख का नहीं। इसका उत्तर बाइबल में नहीं है।.... परंतु, वेद-उपनिषदों में है। उपनिषदों के इन तीन शब्दों तत् त्वम् असि में अध्यात्म और नैतिकता का निचोड़ आ जाता है। आप अपने पड़ोसी को अपने ही जैसा इसलिए प्यार करेंगे, क्योंकि आप और आपका पड़ोसी, दोनों, एक हैं।'[9] अतः उपनिषदों की दृष्टि में जिसको यह ज्ञान हो जाता है कि मैं सब में हूं और सब मुझ में है, वह स्वयं को स्वयं से ही क्षति नहीं पहुंचाएगा। इस प्रकार उपनिषद् केवल अध्यात्मवाद या एकतत्त्ववाद का पिटारा-भर नहीं हैं, बल्कि इसी पिटारे से नैतिकता व समत्व भावना स्वतः निसृत हो जाती है, उसे बाहर कहीं से लागू करने की आवश्यकता नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उपनिषदों का सम्यक् दृष्टि से अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि उनका एकतत्त्ववाद बनाम अध्यात्मवाद वर्तमान में मानवीय समत्व व आचार-नीति के परिप्रेक्ष्य में कितना प्रासंगिक हो सकता है। क्योंकि आज धर्म के मामले में या जिहाद का नारा लगाकर मानव मानव से ही लड़ रहा है। अमीरी-गरीबी का भेद और गहरा होता चला जा रहा है। धर्म-भेद, रंग-भेद, जाति-भेद, लिंग-भेद आदि ऐसी ही सामाजिक असमानता की अनेक जड़ें गहरी होती जा रही हैं। लेकिन, यदि उपनिषदों का एकांगी दृष्टि से अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि इस दृष्टि से लौकिक जीवन और उसका साधन—ज्ञान, दोनों ही हेय ठहरते हैं और यह स्पष्ट ही सामाजिक अभ्युदय का विरोधक है, लेकिन इस प्रकार का नजरिया वैसा ही एकांतावलंबी है जैसा आधुनिक भौतिकवादी दृष्टिकोण।

सम्यक् ज्ञान का मार्ग ही मध्यवर्ती पथ है, किंतु इसे ठीक से न समझने के कारण व्यक्ति और समाज के लिए एक भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कहने का तात्पर्य है कि उपनिषदों के सम्यक् ज्ञान के अभाव में ही उपनिषदों के संबंध में अनेक प्रकार की पूर्वमान्यताएं उत्पन्न होती हैं। इसलिए समस्त प्रकार की पूर्वमान्यताओं से संवृत् होकर (जैसा कि हुर्सल की फिनोमॉनोलोजी बताती हैं) उपनिषदों का सम्यक्-दृष्टि से अध्ययन करने पर हम देखते हैं कि जो तत्त्वमीमांसा वैराग्यवाद और पलायनवाद की पोषक मानी जाती थी, या जिस पर सामाजिक असमत्व में उसकी भूमिका के बाद में प्रश्न उठाए जाते थे—उपनिषदों के इसी तत्त्व-दर्शन को यदि समत्व की दृष्टि से देखा जाए तो उपनिषदों का यही तत्त्व-दर्शन मानव-मूल्य व समत्व-दर्शन का आधार बनता है। उदाहरण के लिए ईशोपनिषद् के निम्नलिखित सूत्रों में समत्व-दर्शन के भाव स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आते हैं:

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मांन ततो न विजुगुप्सते।
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।[10]

यहां भाव यह है कि जो मनुष्य समस्त भूतों को अपनी आत्मा में ही देखता है और अपनी आत्मा में ही समस्त भूतों को देखता है—वह किसी से घृणा नहीं कर सकता। अर्थात्, जो मनुष्य प्राणीमात्र को सर्वाधार परब्रह्म परमात्मा में देखता है और सर्वान्तर्यामी परब्रह्म को प्राणीमात्र में देखता है—वह कैसे किसी से घृणा व द्वेष कर सकता है! क्योंकि वह स्वयं में ही सबके दर्शन करता है और सब में स्वयं को देखता है। अतः कोई भी स्वयं को हानि नहीं पहुंचाता। दूसरा मंत्र इससे भी आगे जाकर बताता है कि जब जीव समस्त भूतों को अपने रूप में जानता है और दर्शनीय समस्त भूत मेरी आत्मा हो गए हैं—ऐसी दृष्टि रखने वाला मनुष्य परमात्मा को भली-भांति पहचान लेता है। तब वह प्राणी-मात्र में एकमात्र तत्त्व परब्रह्म परमात्मा को ही देखता है। ऐसे व्यक्ति को सृष्टि के समस्त स्थानों पर प्रभु के दर्शन होते हैं और इस कारण वह ब्रह्मानंद में मग्न होकर शोक-मोह आदि विकारों से परे चला जाता है। इस प्रकार यहां स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदों के तत्त्व-दर्शन में ही समत्व-दर्शन के दर्शन होते हैं। यहां 'एक में अनेक और अनेक में एक' सिद्धांत द्वारा सामाजिक समत्व के सिद्धांत को प्रस्तुत किया गया है।

अतः आज मनुष्य-मनुष्य में जो भेद-भाव उपस्थित है उनमें अभेद-भाव के निमित्त के रूप में उपनिषद्-दर्शन प्रासंगिक है। क्योंकि उपनिषदों का सर्वप्रथम आग्रह भेद को छेद कर अभेद की स्थापना करना है। उपनिषदों में इस अभेद के सिद्धांत से यह स्पष्ट होता है कि इस संपूर्ण सृष्टि में सर्वव्याप्त समस्त जीव समान हैं, कोई भी उच्च या निम्न नहीं है। सभी में समत्व है, क्योंकि सभी उस एक तत्त्व के ही प्रतिबिंब हैं और प्रतिबिंब ही बिंब है। इस प्रकार बिंब और प्रतिबिंब में समत्व है। अतः उपनिषदों का समत्व-दर्शन उसके तत्त्व-दर्शन से ही निसृत होता है। उपनिषदों में वर्णित समत्वभाव की पुष्टि उपनिषदों के निम्नलिखित वाक्यों से और अधिक स्पष्ट होती है—**स ते आत्मा सर्वान्तरः** (वृहदारण्यक उपनिषद्) अर्थात् वह तेरा आत्मा सबके भीतर है, **एष ते आत्मा सर्वान्तर** (वृहदारण्यक उपनिषद्) यह तेरा आत्मा सबके भीतर है। **तत्त्वमसि** (छांदोग्य उपनिषद्) अर्थात् वह (ब्रह्म) तू (जीव) है। **अयमात्मा ब्रह्म** (माण्डूक्य उपनिषद्) यह आत्मा ब्रह्म है, **अहंब्रह्मास्मि** (वृहदारण्यक उपनिषद्) मैं ही ब्रह्म हूं। **सर्वखल्विंद ब्रह्म** (छांदोग्य उपनिषद्) **नेहनानास्ति किञ्चंन** (वृहदारण्यक उपनिषद्)। इन समस्त उपनिषदीय वाक्यों से स्पष्ट होता है कि हमारी आत्मा व ब्रह्म एक ही हैं। इसलिए उनमें असमत्व समझना अज्ञान है। इसी संदर्भ में वैदिक दर्शनों—न्याय व सांख्य में विवेचन करें तो हम पाते हैं कि न्याय-दर्शन के अनुसार—**समान प्रसवांत्मिका जाति**[11]—अर्थात् जिनके जन्म लेने की विधि या समान प्रसव हो, वे सब एक जाति के हैं। इस प्रकार न्याय-दर्शन में असमानता या भेद-भावना का कोई अपवाद नहीं मिलता। क्योंकि जिनका जन्म, आयु, भोग, रहन-सहन आदि समान हो, वे सब एक जाति में हैं। सांख्यदर्शन में समताभाव स्पष्ट करते हुए कहा जाता है—**मनुष्यश्चैकविधिः**[12]—अर्थात् सभी मनुष्य एक ही जाति के हैं। सांख्य की प्रकृति लज्जाशील व गुणवती होने के साथ ही न्यायप्रिय भी है, जो बिना किसी भेदभाव के समस्त पुरुषों के मोक्षार्थ जगत् रूप में विकसित होती है। योगदर्शन में समता के निर्विचारता अर्थ को मानते हुए पांतजलि ने कहा है—**निर्विचारवैशारदद्दे अध्यात्मप्रसाद**[13]।

अतः कहा जा सकता है कि भारत में जातिगत भेदभाव कभी भी दर्शन का अंग नहीं रहा, चाहे वो वैदिक विचारधारा का दर्शन हो या वेदोत्तर विचारधारा का।

इसी क्रम में वेदोत्तर दर्शनों—चार्वाक जैन और बौद्ध दर्शन पर दृष्टिपात करें, तो हम पाते हैं कि चार्वाक पूर्णतया भौतिकवादी विचारधारा का समर्थक दर्शन है। उसमें मनुष्य का उद्देश्य केवल अपने सुखों व तुच्छ स्वार्थों की पूर्ति करना ही है। समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्व दर्शन का आधार है, लेकिन चार्वाक दर्शन, जो आत्मा का अस्तित्व ही नहीं मानता, उससे अन्य व्यक्तियों के प्रति आत्मतुल्यवृत्ति की अपेक्षा करना एक भूल होगी। बौद्ध दर्शन, जो वेदोत्तर परंपरा का निर्वहन करता है, उसमें समत्वभाव या समता को साधना का अनिवार्य अंग माना गया है। बौद्ध साहित्य मूलतः पालि भाषा में है और पालि-भाषा में **सम्मा** शब्द 'सम' और सम्यक् दोनों अर्थों को स्पष्ट करता है। बौद्ध दर्शन में अष्टांगिक मार्ग का अंतिम या आठवां मार्ग सम्यक् समाधि है। समाधि का भावार्थ केवल ध्यान की अवस्था नहीं है, बल्कि चित्तवृत्ति के समत्व से है। अतः बौद्ध दर्शन में समता से तात्पर्य चित्तवृत्तियों में समत्व से है। अर्थात्, जिस मनुष्य के चित्त की क्लिष्ट और अक्लिष्ट—दोनों ही वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं, वह समस्त मनुष्यों के प्रति समत्वभाव का प्रयोग करता है। इस प्रकार समस्त प्राणियों के प्रति जो समभाव रखता है, ऐसे समत्व-बुद्धि-युक्त मनुष्य को बौद्ध दर्शन में 'त्रिविद्य' कहा जाता है। बौद्ध के अनुसार त्रिविद्य से तात्पर्य है—जो तीन प्रकार की विद्याओं का अधिकारी हो, जैसे पूर्वजन्म को जानने का ज्ञान, जन्म-मरण का ज्ञान तथा चित्त-मलों के क्षय का ज्ञान। जिसे उक्त तीनों प्रकार का ज्ञान हो, वही बौद्ध दर्शन का 'त्रिविद्य' कहलाता है और त्रिविद्य ही निर्वाण को प्राप्त करता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार त्रिविद्य समस्त प्राणियों के प्रति ऐसी भावना रखता है—'जैसा मैं हूं वैसे ही जगत् में सब प्राणी हैं। इसलिए सभी प्राणियों को अपने जैसा समझकर आचरण करें।'[14] त्रिविद्य राग-द्वेष पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है या जो राग-द्वेष, दोनों, के प्रति समान विचार रखता है। इसी संदर्भ में मज्झिम निकाय में स्पष्ट किया गया है कि 'राग-द्वेष और मोह के उपशम को परम उपशम (समता) कहा गया है।'[15] बौद्ध दर्शन की धारणा है कि जब तक चित्तवृत्तियां सम नहीं होतीं, तब तक समता या समाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती। चित्तवृत्तियों के समाप्त हो जाने पर मनुष्य के हृदय में समताभाव का प्रारंभ होता है। बौद्ध-दर्शन में समताभाव का तात्पर्य माध्यस्थ भावना या उपेक्षाभाव है—अर्थात् जो सुख-दुख, प्रिय-अप्रिय, लाभ-हानि, कागज-नोट सबको समान समझता है, या सबके प्रति उपेक्षित दृष्टिकोण या माध्यस्थ वृत्ति रखता है। बौद्ध दर्शन में इस माध्यस्थ वृत्ति पर ही बल दिया गया है और माध्यस्थ वृत्ति ही समता है।

जैन दर्शन में भी कुशल चित्त की दस भूमिकाओं में एक भूमिका उपेक्षा है और उपेक्षा का तात्पर्य चित्त-समता है। इस प्रकार यदि जैन दर्शन या श्रमण परंपरा का विवेचन करें, तो हम पाते हैं कि समत्व श्रमण परंपरा की एकता का मौलिक हेतु है[16]। वस्तुतः जैन दर्शन में श्रमण की जगह 'समण' शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि समण शब्द का प्रयोग करना समताभाव का संपोषक है। यह तथ्य समण शब्द की व्युत्पत्ति से भी स्पष्ट होता है, क्योंकि 'समण' 'सम' शब्द से व्युत्पन्न होता है। **समणाई तेण सो समणो**—जो सब जीवों को तुल्य समझता है, वह समण कहलाता है। इसलिए कहा गया है—

जह मम न पिचं जाणिय एवमेव सव्वजीवाणं।
हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो।।[17]

अर्थात् जैसे मुझे दुख प्रिय नहीं, वैसे ही समस्त जीवों को दुख प्रिय नहीं होता है। इस प्रकार के समताभावों की दृष्टि से जो प्राणियों का वध नहीं करता, वह अपनी समगति के कारण 'समण' कहलाता है।

समण का संबंध 'सम' और 'शम', इन दोनों ही भावों से अभिप्रेत है। सम का तात्पर्य है—राग-द्वेष रहित मनःस्थिति को प्राप्त करना और शम का अर्थ है—क्रोधादि कषायों का उपशम करना। उक्त दोनों ही भाव समता या समत्व विचारों के परिचायक हैं। अतः स्पष्ट है कि समण समता का ही पर्याय है। जैन दर्शन आगे स्पष्ट करता है कि समण वह है जो स्वजन या प्रियजन वर्ग और अन्य मनुष्यों में तथा मान और अपमान, दुख-सुख, लाभ-हानि—समस्त में सम होता है। प्रस्तुत संदर्भ में अपराजित सूरि ने कहा है—**सममणो समणा**—जिसका मन समतायुक्त है, वह समण है। समण का भाव सामण्ण है। किसी वस्तु के प्रति राग-द्वेष के अभाव रूप 'समता' का कथन सामण्ण शब्द से ही किया गया है। अथवा सामण्ण को समता कहते हैं।'[18]

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'श्रमण' या समण शब्द समता अर्थ से संबंधित है। इसके पश्चात् जैन दर्शन में समत्व या समता के अर्थ को स्पष्ट करें तो हम पाते हैं कि जैन दर्शन का आचारांग, समताप्रधान ग्रंथ है। इसमें समता, समानता या समत्व के विभिन्न अर्थों का स्पष्टीकरण किया गया है। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण अर्थों को हम यहां प्रस्तुत करते हैं—

'सब जीवों के प्रति 'सम' होना समता है। सुख-दुख में सम रहना तथा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में सम रहना समता है। इसी प्रकार समता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—जीवन-मरण, लाभ-हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुख आदि में राग-द्वेष न करके समभाव रखना समता है।'[19] धवला में मित्र-शत्रु, मणि-पाषाण और सुवर्ण-मृत्तिका में राग-द्वेष के अभाव को समता कहा गया है।[20] अतः स्पष्ट है कि जैन दर्शन समस्त जीवों एवं समस्त परिस्थितियों में समान भाव रखने को प्रेरित करता है। जैन दर्शन में 'समत्व-दर्शन' का विशेष महत्त्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि उनके आचार-दर्शन में मनुष्य के 'सामायिक' चरित्र का होना अनिवार्य है और चरित्र हेतु सामायिक व्रत के पालन का निर्देश किया गया है। जैन मतानुसार सामायिक का अपर नाम समता है। सामायिक से समता या समत्वभाव का अभिप्राय लगाना अर्थसंगत भी प्रतीत होता है, क्योंकि सामायिक पद के मूल में समाय शब्द है। समाय पद सम और आय इन दोनों के संयोग से बनता है।

सम का तात्पर्य है—समता या समभाव और आय का अर्थ है—लाभ या प्राप्ति। इस प्रकार सम और आय इन दोनों के अर्थों को मिलाने से समाय से भावार्थ निकलता है—समभाव का लाभ या समता की प्राप्ति। अतः समाय संबंधी भाव या क्रिया को सामायिक कहते हैं। इस प्रकार सामायिक आत्मा का वह भाव अथवा शारीरिक क्रिया है, जिसमें मनुष्य को समभाव की उपलब्धि होती है। जैन दर्शन के अनुसार जो सामायिक का आराधक होता है—वह त्रस और स्थावर, समस्त जीवों के प्रति समत्वभाव को अपनाता है। दूसरे शब्दों में जो सामायिक व्रत रखता है—उसके मन, वचन और कर्म, तीनों पवित्र होते हैं। वस्तुतः सामायिक व्रत का प्रयोजन ही यही होता है कि मनुष्य के मन, वचन और कर्म में सावद्यता अर्थात् दोष न रहे। इसीलिए 'सामायिक' में मनुष्य की दो प्रकृतियों का होना अनिवार्य है—

1. सावद्ययोग अर्थात् दोषयुक्त प्रवृत्ति का परित्याग।

2. निरवद्ययोग अर्थात् दोषमुक्त प्रवृत्ति का आचरण।

इस प्रकार सामायिक का अर्थ होता है—समस्त सावद्य प्रवृत्तियों का विसर्जन और निरवद्य प्रवृत्तियों का अर्जन।

जैन मतानुसार धीरे-धीरे समभाव का अभ्यास करते-करते व्यक्ति अपने पूरे जीवन को समतामय बना लेता है। लेकिन, जब तक सामायिक या समता जीवनव्यापी नहीं हो जाती, तब तक मनुष्य का अभ्यास जारी रहता है। यही सामायिक व्रत की यथार्थ अनुपालना है।

इस संदर्भ में जैन दर्शन का दृष्टिकोण है कि निम्नलिखित पांच अतिचारों से सामायिक व्रत दूषित हो जाता है:

1. **मनोदुष्प्रणिधान**—अर्थात् मनुष्य के मन में सावद्य भावों का चिंतन और मनन होना।
2. **वाग्दुष्प्रणिधान**—वाणी से सावद्य वचन बोलना या वाणी का दूषित होना वाग्दुष्प्रणिधान कहलाता है।
3. **कायदुष्प्रणिधान**—मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं का सावद्य या दोषपूर्ण होना कायदुष्प्रणिधान कहा जाता है।
4. **स्मृत्यकरण**—सामायिक की स्मृति न रखना—स्मृत्यकरण है।
5. **अनवस्थितकरण**—यथास्थित सामायिक न करना या समय पूरा हुए बिना ही सामायिक पूरी कर लेना—अनवस्थितकरण है।

सामायिक के उक्त पांच अतिचारों को स्पष्ट करने के पश्चात् यह बताना प्रासंगिक है कि जैन दर्शन से संबंधित विशेष आवश्यक भाष्य में निम्नलिखित तीन प्रकार की सामायिक का उल्लेख किया गया है—

सम्यक्त्व-सामायिक	सम्यक् दर्शन	चित्तवृत्ति का समत्व
श्रुत-सामायिक	सम्यक् ज्ञान	बुद्धि का समत्व
चारित्र-सामायिक	सम्यक् चरित्र	आचार का समत्व[21]

उपरोक्त विवेचन में समता या समत्व में जैन मतानुसार विभिन्न अर्थ स्पष्ट किए गए हैं, लेकिन इन सभी अर्थों की निष्पत्ति 'समता' के मूल दो अर्थों से ही होती है। जैन दर्शन के समता-प्रधान ग्रंथ आचारांग में समता के

निम्नलिखित दो मौलिक अर्थ और दो प्रकारों का विवेचन किया गया है—

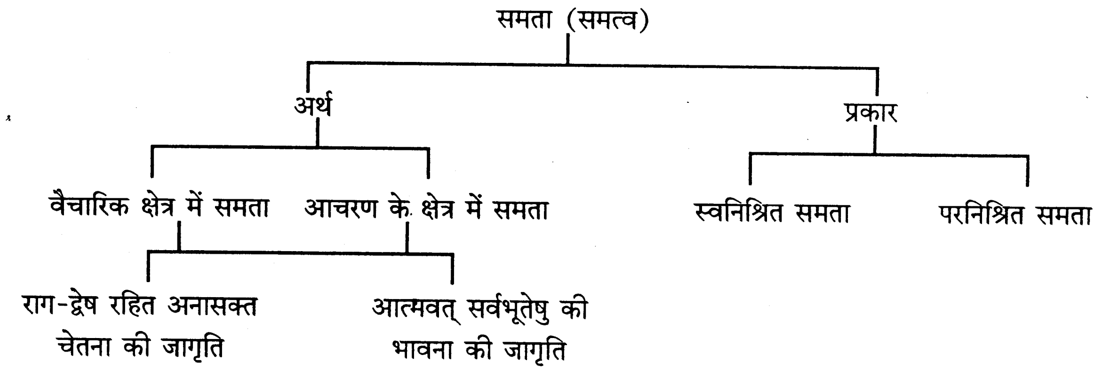

जैन दर्शन में बताए गए समता के उपरोक्त दोनों अर्थों में समस्त भारतीय दर्शन एवं समस्त विचारकों द्वारा बताए गए समत्व भाव से संबंधित समस्त अर्थों—जैसे माध्यस्थवृत्ति, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, प्रशम, समानता और शांति आदि का एकीकरण हो जाता है। इस प्रकार जैन विचारणा में समत्व-दर्शन के व्यापक विचार उपलब्ध होते हैं।

वैचारिक दृष्टि से समता से अभिप्राय है—चेतना की बहिर्मुखी अवस्था को अंतर्मुखी बनाने के लिए राग-दोष अर्थात् सुख-उत्पादकों से प्रेम एवं दुख-उत्पादकों से घृणा, इन दोनों भावों से ऊपर उठ कर अनासक्त भावना को जाग्रत करना। दूसरे शब्दों में वैचारिक क्षेत्र में समता या समत्व का तात्पर्य राग-द्वेष रहित स्थिति को प्राप्त करना है।

आचरण के क्षेत्र में समता का तात्पर्य है—समस्त प्राणियों के प्रति आत्मतुल्यदृष्टि अपनाना। जैन दर्शन में समता के उक्त दोनों अर्थों के आधार पर समता के दो प्रकार बताए गए हैं—

1. स्वनिश्रित समता

2. परनिश्रित समता

यहां यह स्पष्टीकरण आवश्यक है कि समता के दोनों प्रकार समता के दोनों अर्थों से ही व्युत्पन्न होते हैं, लेकिन यह भी नहीं कहा जा सकता कि समता का एक अर्थ समता के एक ही प्रकार से संबंधित है। वस्तुतः समता के दोनों अर्थ पृथक्-पृथक् रूप से समता के दोनों प्रकारों से संबंधित हैं। उदाहरण के लिए वैचारिक समता से तात्पर्य है—स्वयं के विचारों, जैसे राग-द्वेष के प्रति समभाव रखना—यह वैचारिक क्षेत्र में स्वमिश्रित समता का प्रकार है। इसी प्रकार दिन, रात और स्वप्न में भी अन्य प्राणियों के प्रति ऊंच-नीच का भाव नहीं रखना चाहिए—यह वैचारिक क्षेत्र में परनिश्रित समता को सिद्ध करता है। इस प्रकार यहां भावात्मक समता या वैचारिक समता को स्पष्ट किया गया है, जिसका शारीरिक क्रिया से कोई संबंध नहीं है, लेकिन शारीरिक क्रियाएं मानसिक विचारों का ही अनुसरण करती हैं। इसलिए जैन दर्शन में वैचारिक समता का विशेष महत्त्व है। यदि व्यक्ति मानसिक रूप से समत्वभाव अपनाने को तैयार हो जाए तो उसकी शारीरिक क्रियाओं से यह भावना स्वतः निसृत हो जाती है। जिस प्रकार विचार के क्षेत्र में समता के अर्थ से समता के दोनों प्रकार संबंधित हैं, उसी प्रकार आचरण के क्षेत्र में समता के अर्थ से समता के दोनों प्रकार संबंधित हैं। अतः अब समता के दोनों प्रकारों का स्पष्टीकरण आवश्यक है।

स्वनिश्रित समता—स्वनिश्रित समता का तात्पर्य है—जो स्वयं कर्ता को प्रभावित करती है। आचारांग के अनुसार राग-द्वेष के उपशमन के द्वारा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समान भाव रखना स्वनिश्रित समता है। इसमें मनुष्य संतुलित अनुभूति करता है। अर्थात्, वह न तो शारीरिक या मानसिक कष्टों में दुखी होता है और न शारीरिक या मानसिक आनंदों से सुखी होता है। वह सुख और दुख, दोनों के प्रति समान भाव रखता है। जैसा कि कहा भी गया है—**जो चंदणेण बाहं आलिंपइ वासिणा व तच्छेति। संथुणइ जो अणिंदति महेसिणो तत्थ समभावा।**[22]

अर्थात्, जो बरछी से काटे जाने पर, चंदन का लेप किए जाने पर, स्तुति या अपमान किए जाने पर भी सम रहता है—वही मोक्ष को प्राप्त करता है। इसी संदर्भ में

गीता भी कहती है कि जो सुख-दुख में समभाव रखता है, उस धीर व्यक्ति को इंद्रियों के विषय व्याकुल नहीं करते। वह मोक्ष या अमृततत्त्व का अधिकारी होता है। अतः आसक्ति का त्याग कर, सिद्धि-असिद्धि में समभाव रखकर, समत्व-दृष्टि से युक्त होकर आचरण करना ही समत्व योग है।[23]

अतः स्पष्ट है कि जो व्यक्ति राग-द्वेष या सुख-दुख के प्रति उपेक्षित व्यवहार करता है, उसके कर्मों का बंधन नहीं होता। लेकिन, जो व्यक्ति संसार में आसक्तिभाव रखता है—वह दुखी होता है। क्योंकि उसके कर्मों का बंधन होता है और कर्मबंध ही दुख का हेतु है। इसलिए स्वनिश्रित समता की सिद्धि के लिए जैन दर्शन कषाय के उपशमन का निर्देश करता है। स्वयं भगवान महावीर ने कहा है—

जो पुरुष कषाय को रोकता है, वही अपने किए हुए कर्मों का भेदन कर पाता है[24]। अतः कषाय के निरुद्ध हो जाने पर कर्मों का आस्रव बंद हो जाता है। अतः कर्म-क्षय हेतु कषाय का निरोध आवश्यक है और कषाय-निरोध हेतु समता या समत्वभाव का पालन अनिवार्य है। स्वनिश्रित समता में व्यक्ति निर्विकल्पता या निर्विचारता को अनुभव करता है। निर्विचारता से तात्पर्य है—व्यक्ति शुभ व अशुभ, दोनों विचारों के प्रति निर्विचार हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि प्रिय-अप्रिय व्यवहार के प्रति व्यक्ति का उपेक्षित व्यवहार होना समता को सिद्ध करता है। दूसरे शब्दों में प्रियता रागानुबंधी कर्म व विचारों का पोषण करती है। अप्रियता द्वेषानुबंधी कर्म व विचारों की निमित्त है। तटस्थ वृत्ति के द्वारा ही इन दोनों स्थितियों में समभाव अपनाया जा सकता है। अतः तटस्थ वृत्ति समता का ही अपर रूप है।

परनिश्रित समता—परनिश्रित समता का तात्पर्य है—समस्त प्राणियों को अपने समान समझना। इस प्रकार परनिश्रित समता आत्मतुलावृत्ति पर आधारित है। आत्मतुलावृति से तात्पर्य है कि समस्त प्राणियों के प्रति आत्मवत् व्यवहार रखना, अर्थात् जैसा व्यवहार आप अपने प्रति चाहते हैं, वैसा ही व्यवहार दूसरों के प्रति करें। जैन दर्शन में परनिश्रित समता का महत्त्वपूर्ण सूक्त है—**आयओं बहिया पास**[25]।

अतः जैन दर्शन का स्पष्ट मत है कि जो व्यक्ति स्वयं से भिन्न अन्य व्यक्तियों के प्रति आत्मदृष्टि रखता है, वह कभी प्राणातिपात आदि पापकर्मों में लिप्त नहीं होता। उसके जहन में यह बात घर कर जाती है कि जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सभी प्राणियों को सुख प्रिय है। इस संदर्भ में जैन दर्शन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महाव्रत—अहिंसा—परनिश्रित समता को सिद्ध करता है। अहिंसा के पालन के लिए अनिवार्य है प्राणातिपात आदि से विरत होना। अर्थात्, किसी के प्राणों का हनन नहीं करना चाहिए, क्योंकि सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नहीं चाहता। वस्तुतः जीव की मौलिक प्रवृत्ति जिजीविषा है। इसलिए भगवान महावीर ने कहा है—

'किसी भी प्राण, भूत, जीव और तत्त्वों का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए। क्योंकि सब आत्माएं समान हैं, यह जानकर पुरुष समूचे जीवलोक की हिंसा से उपरत हो जाएं।'[26]

अहिंसा के संदर्भ में समता का अर्थ है—आत्मतुला। इसी प्रकार अपरिग्रह के संदर्भ में समता का अर्थ है—समभावना। जैन दर्शन में वर्णित परनिश्रित समता का प्रयास समस्त मानव-जाति को समान मानता है। वह धर्म, वर्ण, रंग या जाति में भेद नहीं मानता। अतः जैनों का परनिश्रित समता सिद्धांत सर्वधर्म समभाव एवं वसुधैवकुटुंबकम् की अवधारणा पर अवलंबित है। इसीलिए परनिश्रित समता के संपोषक महावीर ने कहा है—**पुरुष अनेक बार उच्च गोत्र और अनेक बार नीच गोत्र का अनुभव कर चुका है। अतः न कोई हीन है न कोई अतिरिक्त**[27]। इसी संदर्भ में कहा गया है—'पंडित पुरुष समता का अनुभव करे। उच्च गोत्र आदि सम्मान प्राप्त होने पर हर्ष न करे और नीच गोत्र, अपमान आदि प्राप्त होने पर क्रोध न करे।'[28]

जैन मत के समता संबंधित उपरोक्त मतों का आधार वस्तुतः यह है कि द्रव्यार्थिक या निश्चय नय में न कोई आत्मा हीन है और न कोई उच्च है। सभी समान हैं। यहां उच्चता-नीचता का भेद ही समाप्त हो जाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समस्त भारतीय दर्शन की दृष्टि से समत्व-साधना मनुष्य के चरम लक्ष्य—मोक्ष—की प्राप्ति हेतु अनिवार्य है। वस्तुतः मोक्ष-प्राप्ति के साधनों में केवल समत्वभाव ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए पर्याप्त है, लेकिन यदि मोक्ष-प्राप्ति के अन्य समस्त साधनों—जैसे ध्यान, तप, जप, स्वाध्याय आदि की व्यक्ति साधना करे और समत्वभाव की अवहेलना करे तो वह मोक्ष का

अधिकारी कभी नहीं हो सकता। इसलिए कहा गया है—

'जो व्यक्ति सुहृदय, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ एवं द्वेषी तथा बंधु में, धर्मात्मा तथा पापियों में समभाव रखता है—वही अतिश्रेष्ठ है, वही मुक्ति को प्राप्त करता है।'[29]

अतः स्पष्ट है कि समत्व-साधना मोक्ष-प्राप्ति का अनिवार्य अनुबंध है। इसलिए समत्व-चिंतन समस्त भारतीय दर्शन में पर्याप्त रूप से हुआ है। जैसे बौद्धों में मध्यस्थ दृष्टि के रूप में, जैन दर्शन में समता के रूप में, गीता में समत्वयोग के रूप में और उपनिषदों में निष्काम-भाव के रूप में समत्व-चिंतन किया गया है। साथ ही भारतीय दर्शन में समत्वयोगी—चाहे वह बौद्धों का त्रिविद्य हो, या जैनों का वीतराग एवं गीता का कर्मयोग हो, या उपनिषदों का निष्काम कर्म—इन सभी की एकमात्र शिक्षा समत्व की साधना करना ही है। ❖

संदर्भ

1. डॉ. एस. राधाकृष्णन—भारतीय दर्शन भाग-1, पृ.सं. 299
2. ऋग्वेद 5/60/5
3. यजुर्वेद 18/48
4. अथर्ववेद 12/1/12
5. गोविंदचंद्र पांडे—भारतीय परंपरा के मूल स्वर, पृ.सं. 38
6. गीता 9/32
7. गीता 7/21
8. डॉ. एस. राधाकृष्णन—प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, पृ.सं. 112
9. डॉ. एस. राधाकृष्णन—प्राच्यधर्म और पाश्चात्य विचार, पृ.सं. 118
10. ईशावास्योपनिषद्, श्लोक 6, 7
11. गौतम न्याय सूत्र 2.2.70
12. ईश्वरकृष्ण—सांख्यकारिका 5/7
13. पांतजल योग सूत्र 1/47
14. सुत्तनिपात 3/47/7
15. मज्झिम निकाय 3/40/2
16. साध्वी शुभ्रयशा—आचारांग और महावीर, पृ.सं. 355
17. वही, पृ.सं. 354
18. वही, पृ.सं. 355
19. उत्तराध्ययन 19/89, 90
20. धवला 8/3/41
21. साध्वी शुभ्रयशा—आचारांग और महावीर, पृ.सं. 357
22. मुनि जंबुविजय—आचारांग वृत्ति, पृ.सं. 208
23. गीता 2/15, 48
24. आचारांग सूत्र 3/73
25. आचारांग सूत्र 3/52
26. आचारांग सूत्र 4/1, 3/3
27. आचारांग सूत्र 2/49
28. आचार्य महाप्रज्ञ—आचारांग भाष्य, पृ.सं. 104
29. गीता 6/9

❖❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

भारतीय राष्ट्रीयता एवं संस्कृति वैदिक के साथ श्रमण और लोकायत-संस्कृतियों की त्रिवेणी भी है। यवन और मुगल तथा जरथुस्ती और ईसाइयत और हाल में सिक्खों का भी योगदान है। यह महासम्मिश्रण हमारी महासंपदा है। विविधता हमारा दोष नहीं, यह हमारा वैभव है, यही हमारी समृद्धि है।

भारतीय राष्ट्रीयता और इसकी चिरंतन एकता 'सांस्कृतिक' रही है। इसे केवल 'महाद्वीपीय' क्षेत्रवाद में बांधना इसकी 'वैश्विक सांस्कृतिक चेतना' के सामंजस्य को नष्ट करना है।

भारतीय राष्ट्रीयता के वैश्विक आयाम

डॉ. रामजीसिंह

स्वाधीनता दिवस अवसर विशेष

भारतीय राष्ट्रीयता को 'आर्यावर्त्ते भरतखंडे' के मंत्रोच्चार के आधार पर क्षेत्रवाद (महाद्वीपीय) में बांधना न्याय नहीं है। भारतीय राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आदर्श है जिसमें विश्व-कल्याण-भाव (भद्रमिच्छति ऋषयः स्वविर्दस्तपो दीक्षामुपसे दुरग्रे—अथर्ववेद, 19/49/9), धर्मपालन (यस्मिन्धर्मो विराजत तं राजान प्रचक्षते—महाभारत, शांति पर्व, 90/3/8) एवं प्रजा-रजंन (प्रहलादनाच्चन्द्रः प्रता-पातपनों-यथा तथैव सोअभुदरावर्था राजा प्रकृति रंजनात्—कालिदास, रघुवंशम् 4/12) (देखिए श्रीमद्भागवत महापुराणम् 4/16/15) अपेक्षित हैं। वैदिक राज्य-शासन के आठ प्रकार के साथ अश्वमेध, राजसूय यज्ञों और चक्रवर्ती का विधान भारतीय राष्ट्रवाद का विस्तार है, भारतीय राष्ट्रीयता का नहीं। चाहे त्रेता हो या द्वापर—हम अनेक राजवंशों को देखते हैं। ऐतिहासिक युग में तो भारत का संपूर्ण भूगोल कभी भी एक राजवंश के अधीन नहीं रहा है। इसका एक ही अर्थ है कि 'राज्य-शासन' ही हमारा सर्वोच्च मूल्य नहीं रहा। हम मूलतः सांस्कृतिक जीवन-प्राणी रहे हैं। भारतीय संस्कृति की सर्वोच्च साधना मानव-समन्वय है। इसीलिए तो गुरुदेव रवींद्रनाथ ने भारत को 'मानव-संस्कृति' का सागर कहकर उस पुण्य-तीर्थ में माता के मंगलघट को भर देने के लिए सब लोगों को आमंत्रित किया है। निषाद (नेग्रिटो, निग्रोवदटु), किरात (मंगोलाइड), द्रविड़, आर्य-अनार्य, शक, हूण, सीथियन, यूनानी आदि न जाने कितने इस संस्कृति के सागर में आते गए।

भारतीय राष्ट्रीयता एवं संस्कृति वैदिक के साथ श्रमण और लोकायत-संस्कृतियों की त्रिवेणी भी है। यवन और मुगल तथा जरथुस्ती और ईसाइयत और हाल में सिक्खों का भी योगदान है। यह महासम्मिश्रण हमारी महासंपदा है। विविधता हमारा दोष नहीं, यह हमारा वैभव है, यही हमारी समृद्धि है।

भारतीय राष्ट्रीयता और इसकी चिरंतन एकता 'सांस्कृतिक' रही है। इसे केवल 'महाद्वीपीय' क्षेत्रवाद में बांधना इसकी 'वैश्विक सांस्कृतिक चेतना' के सामंजस्य को

नष्ट करना है। वेद का मंत्र वैश्विकता की शहनाई है— माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः। इसी तरह यजुर्वेद के अन्तर्गत राष्ट्रवंदना को देखें—

आ ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्
आ राष्ट्रे राजन्य शूर इषोव्योअति महारथो जायताम्।

इसमें स्वतः योगक्षेम की चर्चा है, लेकिन 'भारत' का नाम तक नहीं है। इसीलिए अथर्ववेद (3/30/9) में मानव-समाज की सारी जातियों के समस्त वर्णों के नर-नारियों को लक्ष्य करके कहा गया है—

सहृदयम् सांमनस्यमविद्वेष कृणोमि वः।
अन्योअन्यमभि हृर्यत वत्स जातमिवाधन्यो।।

ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में आठ प्रकार के राज्यों का वर्णन है। संपूर्ण पृथ्वी एक ही शासन से शासित होने की ऋषि की घोषणा है—**पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराट्**— संपूर्ण पृथ्वी पर एक ही शासन है, क्योंकि संपूर्ण पृथ्वी पर एक ही आर्य-परिवार है—यानी **वसुधैव कुटुंबकम्**। ऋग्वेद शायद इसीलिए **कृणवन्तो विश्वआर्यम्** का उद्घोष करता है। प्रारंभ में 'वैराज्य' (विगत राजकं वैराज्य) की कल्पना थी, जो आगे चलकर **स्वराज्य—यतेमहि स्वराज्ये** की कल्पना में मूर्तमान हुई। स्वराज्य की कल्पना भी परम वैश्विक ही है।

विविधता में एकता की साधना ही सच्ची भारतीयता है। समन्वय की इस साधना का आधार हमारी आध्यात्मिकता है—**एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति**। यह सार्वभौम समन्वय की गायत्री है। सद् तो एक ही है, लोग अपनी श्रद्धा एवं अनुभूति के आधार पर उसका अलग-अलग वर्णन करते हैं। इस सांस्कृतिक सामासिकता का सारसर्वस्व **साधनानां अनेकता**—यानी साधनों की अनेकता है। हमारा ही साधन, हमारा ही रास्ता, हमारा ही पंथ, हमारा ही संप्रदाय या हमारा ही राष्ट्र सर्वश्रेष्ठ मानना क्षुद्रता तो है ही, हीनभावना का भी परिचायक है। सत्य की प्राप्ति का केवल एक मार्ग नहीं हो सकता—**रुचीनाम् वैचित्र्यात्**। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार हम ज्ञान, भक्ति, कर्म आदि सीधा या टेढ़ा रास्ता अपनाते हैं।

जैनों के अनेकांतवाद और स्याद्वाद ने तो हमें ज्ञान मीमांसात्मक संयंत्र देकर समन्वय-साधना को एक वैज्ञानिकता प्रदान की है। भगवान बुद्ध ने **मध्यम प्रतिपदा** का सिद्धांत देकर जीवन में हमें अंतों के मध्य में रहने की शिक्षा दी है। वेद ने तो पहले ही कहा था—**मध्यम अभयं।** समन्वय की साधना की रही-सही कमी अद्वैत ने पूरी कर दी। शंकराचार्य के गुरु गौड़पाद ने तो कह दिया—'दूसरे दर्शन आपस में भले विवाद करते रहें, अद्वैत दर्शन सर्व-समन्वयवादी होने के कारण इसका किसी से झगड़ा नहीं है।'—**ईशावास्यमिदं सर्वम्। सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** सियाराममय सब जग जानी। इसलिए तो चाहे वैदिक हो या श्रमण-संस्कृति, विचार में चाहे जो भी भिन्नता हो—आचार में सब 'अहिंसा' को स्वीकार करते हैं। जो विचार में अनेकांत एवं अद्वैत हैं, वही आचार में अहिंसा है। समन्वय की इस धारा को कुछ आग्रही एवं आक्रमणकारी साम्राज्यवादियों से अवश्य चोट पहुंची है, लेकिन मध्यकालीन युग में राजनीतिक एवं धार्मिक संघर्षण और विखंडन के बीच भी सामाजिक सामंजस्य और धार्मिक समरसता का प्रवाह अवरुद्ध नहीं हुआ। अलाउद्दीन खिलजी तमाम क्रूरता के प्रसंगों के बावजूद प्रथम इस्लामी शासक था जिसने धार्मिक मुल्ला-मौलवियों को साफ कह दिया था—'मैं नहीं जानता कि मेरे काम इस्लामी कानून के अनुकूल हैं या नहीं। मैं तो वही करता हूं, जिसे मैं राज्यहित में वाजिब मानता हूं। मुझे नहीं मालूम कि खुदा मुझे आखिरत में क्या सजा देंगे।' काजी मुगीसउद्दीन को अलाउद्दीन द्वारा दिया गया उत्तर देखिए (मिडाइवल इंडियन क्वार्टरली पृ. 5)। मुगल बादशाहत के पूर्व इल्तुतमिश, बलबन, मुहम्मद-बिन-तुगलक आदि ने साफ तौर पर इस्लामी शरीयत के मुताबिक हुकूमत चलाने में मजबूरी बताई। फतवा-ए-फहनवारी इतिहासकार जियाउद्दीन बर्नी बादशाह को उद्धृत करते हैं—'सच्चा मजहब पैगंबर साहब के पदचिह्नों पर चलने में है। परंतु, इसके विपरीत शाही हुकूमत खुसरो परवेज और ईरान के बड़े बादशाहों की नीति पर ही टिक सकती है। यह मानते हैं कि शरीयत के हुक्म और बादशाहत के तौर-तरीके बिलकुल अलग-अलग हैं।' निजामुद्दीन का भी कहना है बलबन ने मजहब से ऊपर बादशाहत को रखा (तबकात-ए-अकबरी, भाग-1 पृ. 82)। काजी मुगीसउद्दीन अफसोस के साथ लिखते हैं— 'यद्यपि मध्ययुग में भारत में बादशाह मुसलमान थे, लेकिन बादशाहत इस्लामी नहीं थी। हुकूमत कुरानशरीफ, हदीस या सुन्नी शरीयत के मुताबिक नहीं चलती थी। इसलिए उस समय के राज्य को धार्मिक राज्य नहीं माना जा सकता। प्रो. मु. हर्षव ने यही कारण बताया कि 6-7 शताब्दियों तक विदेशी मुस्लिम बादशाहों का राज चलता रहा।

भारत के मुसलमानों ने तुर्की या अरबी भाषा, या वहां की वेशभूषा, गहने-जेवर या दैनंदिन कार्यक्रम नहीं अपनाए। अरब का अमामा, जुब्बा, रत, तहमद और तस्मा तथा मध्य एशिया का कूलह, नीमा, मेज आदि के बदले हिंदू पगड़ी, चीरा, कुर्ता, अंगरखा, पद, दुपट्टा, पायजामा और जूते अपनाए। विवाह पद्धति में निस्बत, बलद्री, मेहंदी तेल, मड़वा, बरात, जलवा, कंगन आदि भारतीय प्रभाव के सबूत हैं। मुसलमानों ने भी हिंदुओं की तरह बाल-विवाह, विधवा-विवाह का विरोध, महिलाओं की उपेक्षा, पर्दा-प्रथा को अपनाया। फिर हिंदुओं के कई व्रत और त्यौहार, जैसे तीज, दसवीं, सतमासा भी उन्होंने अपनाए। मार्के की बात है कि कुछ मुस्लिम महिलाओं ने भी जौहर व्रत करके दिखाया। जफरनामा के मुताबिक भटनायर के गवर्नर कमालुद्दीन ने जब तैमूर से युद्ध के लिए प्रस्थान किया तो उनकी पत्नी ने जौहर किया था। इसकी तारीफ में अमीर खुसरो लिखते हैं—'यूंजने हिन्दी वशे दर आशिकी दीवाना नैश्त। सोख्तन बरश्मा शौहर कारहर परवाना नैश्त।' मुहम्मद बिन तुगलक कोई असंतुलित नहीं था, वह तो दक्षिण की प्रजा का सहयोग प्राप्त करने के लिए अपनी राजधानी दिल्ली से देवगिरि ले आया था। तुगलकनामा में अमीर खुसरो ने, जो दक्षिण में अलाउद्दीन खिलजी के अभियान में साथ था, लिखा—'युद्ध में हिंदू एवं मुस्लिम दोनों तरफ थे। एक तरफ की फौज में यदि अल्लाह-हो-अकबर का जयघोष होता तो दूसरी तरफ जयनारायण था। तुगलक जैन विद्वानों का आदर करता था और उसने माउंट आबू पर एक पहाड़ी पर भीम सिन्हा प्रसाद की मूर्ति स्थापित की थी एवं गोशाल, गुणदेवी और अंबिका देवी के मंदिर बनवाए और उन्हें अनुदान दिया।

मध्यकाल में सबसे अधिक समन्वय का काम संतों एवं फकीरों ने किया। उत्तर में चैतन्य, नानक, निजामुद्दीन औलिया, ख्वाजा, मुइ चिश्ती, कबीर आदि तथा दक्षिण में मध्व, नामदेव, तुकाराम, शेख मुहम्मद आदि सामंजस्य का प्रयास करते रहे। हिंदुओं में जैसे वैष्णव संप्रदाय था, वैसे मुस्लिमों के बीच सूफी संतों ने भक्ति-धारा बहाई। इब्नबतुता के अनुसार हिंदू संतों के भी मुस्लिम शिष्य और मुस्लिम फकीरों के भी हिंदू शिष्य होते थे। राज्य-शासन में भी लगभग हिंदुओं के एक तिहाई हिंदू अधिकारी थे, जबकि वाणिज्य-व्यापार ज्यादातर हिंदुओं के हाथ में थे।

मुगलकाल में धार्मिक संघर्ष नहीं, बल्कि सत्ता का संघर्ष था। बाबर का सुलतान सिकंदर लोदी से, हुमायूं का शेरशाह से, महाराणा प्रताप का मानसिंह से सामना था। अकबर की फौज में 40 हजार हिंदू एवं 60 हजार मुसलमान थे। महाराणा प्रताप की सेना में हकीमखां की एक खास पठान टुकड़ी थी। जालौर के मुस्लिम राजा ने महाराणा को 1000 घुड़सवार से हल्दीघाटी में मदद की थी। शिवाजी महाराज के जीवनी लेखक खाफीखां ने शिवाजी की उदार धार्मिकता एवं कुरान शरीफ के प्रति उनके आदरभाव की तारीफ की, जिसका समर्थन बशीरउद्दीन अहमद एवं अबु अली ने किया। शिवाजी के तोप ब्रिगेड के प्रधान, नौ-सेना के उपाध्यक्ष तथा उनके व्यक्तिगत अंगरक्षक तथा विश्वसनीय सचिव मुसलमान थे। शिवाजी मुस्लिम फकीरों की बेहद इज्जत करते थे। औरंगजेब के हिंदू-विरोध की कहानियां हम सुनते हैं, लेकिन वाराणसी के जंगमवाड़ी में शिवमंदिर, उज्जैन में महाकाल, चित्रकूट के बालाजी मंदिर में अनुदान के फरमान आज भी अभिलेखों में मौजूद हैं। औरंगजेब के बनारस के फरमान के अनुसार कहा गया है कि धार्मिक कानून के मुताबिक हम लोगों ने तय किया है कि प्राचीन मंदिर नहीं तोड़े जाएंगे एवं कोई व्यक्ति ब्राह्मणों एवं अन्य हिंदुओं को परेशान नहीं करेगा (अबुलहसन के दिए फरमान—रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, 1911 में प्रकाशित)। बनारस के दूसरे फरमान भागवत गोसाई की हिफाजत के लिए 178 बीघे जमीन मिली थी, जिसे हाईकोर्ट ने भी सही बहाल किया। पालिटाना, सौरठ, अहमदाबाद में भी मंदिर निर्माण के लिए सनद दी गई (फरमान 10 रज्जब 1070 हिजरी)। गोदावरी के किनारे मोहनपुर में दत्तात्रेय गुरु के मंदिर को 700 एकड़ जमीन औरंगजेब ने अपने महाराष्ट्र अभियान में मंजूर की थी (एम के साबअली; द रोल आफ रिलीजन, नेशनल इंट्रीगेशन एंड सोशल हारमनी, 1982, पृ. 144)। औरंगजेब तो कहता है—'सांसारिक मामले में मजहब से क्या लेना-देना ....हमारा धर्म हमारा, आपका धर्म आपका है।' अमृतसर के स्वर्णमंदिर के अकाल-तख्त की नींव एक मुस्लिम फकीर मिंया मीर से रखवाई गई। गुरु गोविंदसिंह के सैकड़ों मुस्लिम शिष्य थे। मुगल बादशाह से उनका झगड़ा राजस्व वसूलने से हुआ। गुरु के दोनों पुत्रों को गंगाराम नामक रसोइये ने पकड़वाया। लेकिन मृत्युदंड का एक मुस्लिम सरहिंद के नवाब ने विरोध किया। जबकि दूसरे प्रतिनिधि, जो हिंदू थे, उन्होंने मृत्युदंड का समर्थन किया।

इसीलिए गुरु गोविंदसिंह ने घोषणा कर दी कि सिख फौज सरहिंद नवाब की रियासत में न जाए। पीर बदरुद्दीन भी सपरिवार एक हजार मुस्लिम फौज के साथ गुरु की तरफ से लड़ें। अफसोस यह कि हमारे इतिहास को इस प्रकार लिखा गया कि हमने एक-दूसरे को दुश्मन समझा।

हिंदू एवं इस्लाम, दोनों, एक ईश्वर को मानते हैं—**एको अहम् द्वितीय नास्ति। एकमेवाद्वितीयम**—यदि हिंदू धर्म में **संभवामि युगेयुगे** में अवतारवाद है.तो कुरान के अनुसार 'दुनिया की कोई कौम व बस्ती नहीं छूटी जहां खुदा का पैगाम लेकर उनका रसूल न आया हो।' यदि हिंदू धर्म में तैंतीस करोड़ देवता हैं, तो इस्लाम में एक लाख चौबीस हजार रसूल पैगंबर हैं।

नैतिकता के क्षेत्र में भी अद्भुत समन्वय है। व्यास का प्रसिद्ध वचन—**आत्मना प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**—के समान ही हदीस में हजरत मुहम्मद ने फरमाया—(कुरान शरीफ से) 'अशरफ-उल-इमानि-उनयमनक अन्तासो'। आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन की एकता भारतीय सामासिक संस्कृति का सशक्त आधार है। हो भी क्यों नहीं, 90 फीसदी मुसलमान या ईसाई तो हिंदू थे। एक ही नस्ल, एक ही रूप-रंग, एक ही वेश-भूषा, एक ही भाषा—फिर 'हिंदू राष्ट्र' या 'मुस्लिम राष्ट्र' की बातें करना इतिहास को झुठलाना एवं सांस्कृतिक अपराध है। मुगल बादशाह अकबर, जहांगीर, औरंगजेब और बहादुरशाह जफर की पत्नियां हिंदू थीं। दोनों एक-दूसरे के त्यौहारों में भाग लेते थे। रस्मो-रिवाज में भी बहुत अंतर नहीं है। जिसे हिंदू मुंडन कहते हैं, वही मुस्लिम समाज में अकीका है। अगर विवाह है, तो उधर निकाह। यदि हिंदुओं में दशकर्म हैं, तो मुसलमानों में दसवां है। हिंदू को यदि नाम माला है, तो मुसलमान को तसबीह। यदि मुसलमान रोजा रखते हैं तो हिंदू चंद्रायण व्रत करते हैं। मुसलमान यदि प्रातः अजान पढ़ते हैं, तो मंदिरों में भी प्रातः घंटे बजते हैं। प्रार्थना, ध्यान, पंडे-पुजारी की तरह मअजिंस, मुजाबिर, धर्मशाला की तरह दरगाह, यज्ञोपवीत की भांति हिलाल और सितार है। मुस्लिम कवि रहीम, रसखान, कबीर, यारो साहब, ताज, शेख, नजीर, कारेखां, दीन दरवेश आदि दर्जनों मुस्लिम कवियों ने भक्तिभाव से हिंदी में कविताएं की हैं। भारतेंदु ने इसीलिए कहा **इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिंदुन बारिए**। वास्तव में यदि सूर, तुलसी, मीरा आदि कवियों को बाद कर देने से हिंदी साहित्य का सूर्यास्त हो जाएगा, तो मुस्लिम कवियों को हटा देने से उसका चंद्रास्त हो जाएगा। हिंदी के संस्थापकों में अमीर खुसरो को कौन भूल सकता है? रहीम की रामचरितमानस की भक्ति, रसखान की कृष्ण-भक्ति भी अनुपम है। साहित्य एवं कला की साधना में भी अद्भुत एकता है। तानसेन के दो गुरु थे हरिदास और गौश। आज भी पं. ओंकारनाथ का अपूर्व संगीत है, तो बिस्मिल्लाखां का शहनाईवादन एक चमत्कार है। यद्यपि चित्रकला की परंपरा इस्लाम में नहीं है, फिर भी अभी फिदा हुसैन की कला है। हिंदुओं का भक्ति-मार्ग एवं सूफी-मत बहुत-कुछ एक आधार पर हैं। मौलाना हाली ने मस्ती में लिखा—'वह दिने हिजाजी देवाक बड़ा। निशा जिसका अंग साये आलम में पहुंचा। किए पै सिपर जिसने सातों समुंदर। वह डूबा बहाने में गंगा में आकर।' आगे हाली कहते हैं—'वह दीन जिससे तौहीद फैली जहां में। हुआ जलवागर हक जमी आसमां में।' जो 'तौहीद' है, वही तो 'अद्वैत' है।

इस्लाम भारत में आकर जरूर बदला भी है और ईसाइयत भी बदली है। हिंदुओं की भावनाओं का आदर करते हुए मुसलमान बादशाहों ने गोहत्या पर पाबंदी लगाई थी, जिसके सबूत बाबरनामा और औरंगजेब की अदबे आलमगीरी एवं रूकात आलमगीरी हैं। यदि रवींद्रनाथ ने—'ऐसो हे आर्य ऐसो अनार्य हिंदू मुसलमान'—गाया, तो मुहम्मद इकबाल का—'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा'—राष्ट्रगीत की तरह लोकप्रिय बना। ऋग्वेदकाल से ही संज्ञान-सूक्त में—**समाना व आकूति, समाना हृदयानि व** का स्वर है। वही भाव स्वामी विवेकानंद ने उच्चारित किया—**हमारी मातृभूमि के लिए एक ही आशा है और वह है इस्लामी शरीर एवं वेदांती मस्तिष्क का संयोग**। सांप्रदायिक धर्म एवं संकीर्ण राष्ट्रीय राज्य के दिन लद चुके हैं। अब विश्व-धर्म एवं विश्व-राज्य का युग आ रहा है।

हमारी गलती यह रही कि हमने कभी भूखंड को, कभी भाषा, कभी वेश-भूषा को राष्ट्रीयता मान लिया। इतिहास में भी तख्त की लड़ाई को मजहब की लड़ाई समझ लिया। सच्चा धर्म और सच्चा दीन एक ही है। अध्यात्म एक और अखंडित है तथा नैतिकता में अत्यधिक समानता है। धर्म-दर्शन एवं नीति-दर्शन में इतना साम्य है तो फिर राष्ट्रीयता को व्यक्तिगत या सांप्रदायिक धर्म से बांधना गलत है।

इसीलिए स्वामी विवेकानंद ने सांप्रदायिक धर्म के बदले विश्व-धर्म का विचार प्रस्तावित किया। रवींद्रनाथ ठाकुर ने समाज-धर्म के बदले 'मानव-धर्म' को श्रेष्ठ माना।

हम अमृतपुत्र हैं—**अमृतस्य पुत्राः**। अमृत वही प्राप्त कर सकता है जो 'भूमा' की ओर बढ़ेगा—**सा वै भूमा न अल्पसुखं**। हमारी नियति मात्र मानव-एकता नहीं, बल्कि मानवेतर एकता भी है। हमारे लिए तो पृथ्वी भी छोटी है, नक्षत्रों में जाने की जब तैयारी हो रही हो तो हिंदू-अहिंदू, हिंद-पाक आदि से ऊपर उठकर 'जयजगत्' का मंत्र सीखना पड़ेगा। सर्वेभवंतु हमारा स्वधर्म, आत्मोपम्य हमारी निष्ठा एवं सर्व-धर्म समभाव ही नहीं, सर्वधर्म ममभाव हमारी साधना होगा। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–
कविता भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति
रचनाकार पहले से ही अपने पास रखें

अहिंसा का विचार जरूरी बनाता है कि हम अहिंसक समाज-रचना की पूरी परिकल्पना उपस्थित करें। इतना ही नहीं, बल्कि अपने बीच तदनुकूल समाज-संघटन का निर्माण करें। अहिंसा यदि अन्य सद्गुणों की भांति केवल मात्र एक सद्गुण ही नहीं, बल्कि धर्म है, यानी सृष्टि में मूलभूत एक शाश्वत नियम है, तो आवश्यक है कि जो लोग उस अहिंसा में निष्ठा रखते हैं, वे नवजीवन के निर्माण में सचेष्ट हों।

अहिंसा : ज्वलंत हो जीवन में

जैनेंद्रकुमार

जीवन-मुक्ति अथवा मोक्ष क्या है? यह प्रश्न किसी शास्त्रीय तत्त्व की जिज्ञासा में से नहीं बना है। जीवन की आवश्यकता में से ही मेरे निकट वह उपस्थित हो गया है और उसका उत्तर हर बार उत्तरोत्तर स्पष्ट रूप में अपने भीतर से मुझे यही मिला है कि जीवन की मुक्ति अहिंसा में है।

'अहिंसा में कहा है—अहिंसा द्वारा नहीं कहा।' कारण, अहिंसा साधन या सीढ़ी नहीं है जो कभी अनावश्यक हो जाए। वह एक ही साथ साध्य भी है, जिसकी आवश्यकता कभी निश्शेष न हो। उसका प्रयोग सर्वव्यापी है। उसे लांघा नहीं जा सकता। इस अर्थ में वह परमधर्म है। वह कोई अचल स्थिति नहीं है, सतत क्रियमाणता है। उसमें गति को अनंत अवकाश है। अर्थात् कोई यह नहीं कह सकता कि वह अहिंसक है, कह यही सकता है कि अहिंसा का प्रयासी साधक है। इसी अपेक्षा में 'अहिंसा द्वारा' की जगह 'अहिंसा में' मुक्ति की उपलब्धि है—यह कहना मुझे अधिक यथार्थ मालूम होता है।

ये शब्द कुछ भारी और व्यवहार से दूर गए हुए-से लग सकते हैं। पर असल में ऐसा नहीं है। सच पूछिए तो नित्य-प्रति के व्यवहार के प्रश्नों को लेकर इन शब्दों की सत्यता मेरे लिए और भी अनिवार्यता से प्रगट हो आती है।

मुक्ति और मोक्ष शब्दों में ध्वनि कुछ शास्त्रीय आ जाती है। पर, क्या हर समय हम अपने को बंधन में नहीं अनुभव करते? क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र के रूप में—हम स्वतन्त्रता के लिए ही नहीं छटपटाया करते? क्या हर कोई—व्यक्ति, दल, देश या साम्राज्य—परिस्थितियों से अपने को जकड़ा हुआ ही नहीं पाता और उनसे आजाद हो जाना नहीं चाहता? क्या हम कह सकते हैं कि जो विग्रह और संघर्ष हमारे कौटुंबिक, सामाजिक और विश्वव्यापी जीवन को अशांत और अस्त-व्यस्त किए हुए हैं, वे अपनी-अपनी स्वतंत्रता की इच्छा और चेष्टा में से ही हमने नहीं उपजा लिए हैं? और क्या अंततः उनसे मुक्ति ही हम नहीं चाहते हैं?

इस तरह मुक्ति कोई पारलौकिक लक्ष्य नहीं, हमारे हर कर्म और क्षण की आवश्यकता है। ऐहिक और लौकिक लक्ष्य भी उससे दूसरा नहीं है।

किंतु, समस्या भी ठीक इसी जगह है। जगत् में असंख्य जीव हैं। सबको स्वतंत्रता चाहिए। मैं अपनी और आप अपनी स्वतंत्रता चाहते हो। इसमें संघर्ष आता है और शिष्ट व्यवहार सूत्र यह निकलता है कि जहां से दूसरे की स्वतंत्रता का आरंभ है, वहीं एक की स्वतंत्रता की सीमा है।

अब विचारणीय है कि जो सीमित है, क्या वह

स्वतंत्रता सच्ची हो सकती है? इसलिए व्यवहार में वह सूत्र कभी पूरा नहीं उतरता है। सीमाओं पर लोगों की अलग-अलग स्वतंत्रताएं सदा ही रगड़ खाया करती हैं और इस प्रकार नए-नए युद्धों को जन्म मिलता रहता है।

कहते हैं कि राज्य में एक राजा और जंगल में एक शेर रह सकता है। यानी उस राज्य में यदि कोई स्वतंत्र है तो वह एक राजा, और जंगल में कोई आजाद है तो शेर। स्पष्ट है कि पेड़ों के और राजनीति के जंगल की यह स्वतंत्रता शेष सबकी परतंत्रता के आश्रय पर ही एक के लिए संभव बनती है। स्पष्ट ही मेरी स्वतंत्रता पूर्ण तभी है कि जब आप या कोई ऐसा न रहे जो मेरे रहते अपने को गिने; इसी तरह आपकी स्वतंत्रता यह चाहेगी कि कोई दूसरा ऐसा न रह जाए कि जो आपके रहते अपने को स्वतंत्र माने। इस पद्धति से दूसरे की पराजय में एक की सफलता और उसको पराधीन रखने में अपनी स्वाधीनता है।

सचमुच यह प्रतिपादन करने वाला एक जीवन-दर्शन ही बन खड़ा हुआ है। इष्ट उसे भी मुक्ति है, पर वह उसकी सिद्धि संघर्ष में से देखता है। युद्ध उसका माध्यम है; राजनीति उसका क्षेत्र है, वह अहं-शक्ति को प्रबल से प्रबलतर, यहां तक कि अद्वितीय, बनाकर व्यक्ति को अपनी मुक्ति सिद्ध करने का मार्ग दिखाता है। वहां व्यक्ति लाखों को अपनी आज्ञा में लेकर, उनके ऊपर बैठकर, अपने को बंधन-हीन अनुभव कर सकता है।

इसी को प्रकृति-विज्ञान माना जाता है। इसमें जीव जीव का भोजन है और बल ही न्याय है। यहां सबल होना ही एक धर्म और निर्बल होना ही एक पाप है।

समझा जाता है कि अनंत इतिहास में से जीवन का विकास इसी पद्धति से हुआ है। प्रबल जीया है और निर्बल के प्रति दयापालन की बात पर वह रुका नहीं रह गया है। गति इसी प्रकार सिद्ध हुई है और कालचक्र किसी ममता को नहीं जानता है। देखो विधाता को और प्रकृति के विधान को। क्या वह निरंकुश, निर्मम और निरपवाद नहीं है? क्या द्वंद ही जगत् का नियम नहीं है? और यदि समस्त प्रकृति का नियम संघर्ष अथवा हिंसा है, तो मानव समाज का भी नियम उससे दूसरा नहीं हो सकता।

यह विचार-दर्शन अत्यंत तर्क-पुष्ट है। बेशक उस तरह तमाम सृष्टि के मध्य में अपने को मानकर उसका आकलन किया जा सकता है। अपनी निजता की भाषा में व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता देखे तो सहसा इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। एक-निष्ठ व्यक्ति दृढ़ संकल्प के द्वारा, दूसरे को कुचलते हुए, विजेता बन गए हैं—इतिहास भी तो यह दिखाता है।

किंतु, इसी जगह अटक भी है। यदि जीव अनेक हैं; और सबको मुक्ति इष्ट है, तो सच्ची मुक्ति क्या वही न होगी जो दूसरे की सत्ता से टक्कर न ले, बल्कि उसको अपने में समा ले?

यह संभव हो सकता है कि दूसरे को दबाकर मैं प्रसन्नता अनुभव करूं, पर दूसरे को बंधन में डालकर जो सुख मुझे प्राप्त होगा उसमें मेरे अपने निज के लिए भी बंधन के तत्त्व गर्भित होंगे। अर्थात् हिंसा के आधार पर प्राप्त हुई स्वतंत्रता अंत में एक प्रकार की परतंत्रता ही सिद्ध हो जाने वाली है। वह सब मुक्ति, जिसकी जड़ में किसी अन्य के लिए बंधन की अनिवार्यता है, असल में मुक्ति नहीं, केवल मात्र एक छल है।

यही स्थल है जहां बुद्धि-भेद देखा जाता है। सावधानता की भी इसी जगह आवश्यकता है। मुक्ति हम दो प्रकार की मान सकते हैं—

(1) आकांक्षाओं की मुक्ति, और—

(2) आकांक्षाओं से मुक्ति।

आकांक्षाओं की मुक्ति तो असल में और बंधन को निमंत्रण देने वाली ही है। आकांक्षाओं से ही मुक्ति है, जो मुक्ति सच्ची हो सकती है।

सामान्यतया धन हमको स्वतंत्रता देता है। धन हो तो मन बंधन अनुभव नहीं करता। धन रहते हम जो चाहे कर सकते हैं। जिसके पास अपार धन है, वह अपार स्वतंत्र लगता है। कोई इच्छा नहीं जिसको वह पूरा न कर सके। धन और प्रभुता है तो मनुष्य की सब कामनाएं सफल हैं। क्या हम ही नहीं अनुभव करते कि हमारे पास और पैसा हो तो हमारी जकड़ ढीली हो आए और हम कुछ अधिक खुल जाएं?

इस ज़गह हम बुद्ध और महावीर के चरित्र से प्रकाश पा सकते हैं। वे राजकुल में जन्मे, उन्हें क्या सुलभ न था? लेकिन मुक्ति की खोज में उन्होंने सब-कुछ छोड़ा। जो साधारणतया चाहा जाता है, उस सबके संबंध में आत्यंतिक अकिंचनता उन ने स्वीकार की। वह जान-बूझकर यहां तक परतंत्र बने, कि कोई भिक्षा न दे तो उन्हें भूखा रह जाना पड़े। जिससे सब काम निकलते हैं, उस धन से वे शून्य हो गए। अनुमान कीजिए कि वे इस तरह कितने पराधीन हो गए होंगे! लेकिन यह भी स्पष्ट है कि मुक्ति का मार्ग उन्होंने ही हमारे

लिए खोला है। शेष महापुरुष भी, जिनको लोग पूजते हैं, उसी एक अनन्य मार्ग पर चले हैं। और हम मानते हैं कि मुक्ति का लाभ और दान किया तो इन श्रेष्ठ और अकिंचन पुरुषों ने ही। वह मुक्ति ऐसी थी कि जिस पर कोई सीमा और समाप्ति न थी। उस मुक्ति में से मानो सभी को कुछ-न-कुछ अंश मिला।

धन से और सत्ता से मिलने वाली स्वतंत्रता और प्रेम और प्रार्थना में प्राप्त होने वाली मुक्ति के अंतर का क्या हम सबको स्वयं थोड़ा-बहुत अनुभव नहीं है?

पहले में अभिमान फूलता है और अनिवार्य रूप से उसकी फिर प्रतिक्रिया होती है। उससे कषाय की वृद्धि होती है और हमारे मन पर सूक्ष्म बंधन लिपटता जाता है। दूसरे प्रकार की मुक्ति का आनंद अविकल और अंतस्थ है। स्पष्ट है कि कषाय में हम स्वतंत्र नहीं हो सकते, अधिकाधिक बंध ही सकते हैं। अहंकार बढ़ेगा, उतनी ही बंधन की जकड़ कसेगी। अहंकार जातीय या राष्ट्रीय होने से अपने गुण में बदल नहीं जाता। इससे मुक्ति का रूप कुछ वही हो सकता है जहां अहंकार का विसर्जन हो और सब में आत्मौपम्य का विकास हो। यही अहिंसा की साधना है।

बारीकी से देखें तो मानवता का इतिहास अहिंसा की ओर ही बढ़ रहा है। जब हम धन चाहते हैं, तो इसलिए चाहते हैं कि उससे अपने प्रेम को चरितार्थ कर सकें। अर्थात् लोक-कर्म में, जिसमें हिंसा गर्भित है, हम प्रवृत्ति इसी आधार पर कर पाते हैं कि अंतरंग अपने प्रेम को यानी अहिंसा को निष्पन्न कर सके। जाने-अनजाने अपने समस्त कर्म-व्यापार की हिंसा में से हम अहिंसा की चरितार्थता की ओर बढ़ रहे हैं। यहां तक कि हिंसक युद्ध भी कुछ-न-कुछ अहिंसा की पहचान की ओर ही हमें बढ़ा जाते हैं।

किंतु आज हम उस जगह पर आ गए हैं जहां यत्न और चेष्टा से हमें अहिंसा की दिशा में पग रखना होगा। वे सब आंदोलन, जो सचमुच स्वतंत्रता को चाहते हैं—चाहे फिर वह व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र की स्वतंत्रता हो—मूल में अहिंसा की परमावश्यकता से विमुख नहीं हो सकते। विमुख होंगे तो अपनी लक्ष्यसिद्धि में तो विफल होंगे ही, साथ में एक गंभीर निराशा के भी शिकार होंगे। अहंता बढ़कर दूसरे की अस्मिता को चुनौती दिए बगैर रह नहीं सकती। इस तरह विकट युद्ध विकटतर युद्ध का बीज ही बो जाएगा। इस विषचक्र की समाप्ति तब तक नहीं है जब तक कोई निश्चित रूप से शस्त्र को फेंक कर अहिंसक निर्भयता को अपना नहीं लेता और सब को अभयदान देता हुआ हिंसा को अपने ऊपर वार करने का निमंत्रण ही नहीं देता।

यही अहिंसा है, जिसका भोजन हिंसा है; जिसे हिंसा से भय नहीं, प्रत्युत हिंसक से प्रीति है; जो स्वयं अमर है, इससे हिंसा के विकार की क्षणिकता जिसे प्रत्यक्ष है; जिसमें अतुल धैर्य है और जीवन के प्रत्येक खंड के प्रति जिसमें करुणा है।

इस अहिंसा का विचार जरूरी बनाता है कि हम अहिंसक समाज-रचना की पूरी परिकल्पना उपस्थित करें। इतना ही नहीं, बल्कि अपने बीच तदनुकूल समाज-संघटन का निर्माण करें। अहिंसा यदि अन्य सद्गुणों की भांति केवल मात्र एक सद्गुण ही नहीं, बल्कि धर्म है, यानी सृष्टि में मूलभूत एक शाश्वत नियम है, तो आवश्यक है कि जो लोग उस अहिंसा में निष्ठा रखते हैं, वे नवजीवन के निर्माण में सचेष्ट हों। सचमुच दुनिया को बदल रहना है। इस विभीषिका में से नव-जन्म का आविर्भाव होना है, दुनिया को नए सिरे से बनाने का सवाल आने वाला है। राजनीति और समाजनीति की पुरानी भूमिकाएं हिल गई हैं। उनका मानो दिवाला निकल चुका है। मेरा विश्वास है कि विचारकों को युद्धोपरांत बरबस उस सनातन सत्य अहिंसा की ओर लौट कर आना पड़ेगा। सच यह है कि उस अहिंसा को हमने शास्त्रीय बनाकर निकम्मा कर दिया है। अपनी निष्क्रियता से उस शब्द के तेज को ही हमने नष्ट कर दिया है। अपने जीवन की निष्ठा और समर्पण का तत्त्व डाल कर ही हम उस अहिंसा को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। किताब की अहिंसा तो यूरोप की लाइब्रेरियों में भी बंद है। मांग उस अहिंसा की है जो जीवन में ज्वलंत हो। वही विश्व की पुनर्रचना के संबंध में कुछ प्रकाश दे सकेगी। उस प्रकाश की आवश्यकता है। बारूद के और वाद-विवाद के धुएं से अंधेरा छाया हुआ है। इस अंधेरे में आपा-धापी ही चल सकती है। अरे, इस अंधेरे में जाने क्या नहीं हो रहा है। ऐसे में प्रकाश चाहिए। यदि आपके भगवान महावीर ने प्रकाश के स्रोत को पाया था तो उसकी दुहाई से काम नहीं चलने वाला है। स्वयं उस स्रोत से मिले प्रकाश को जगत् के सम्मुख करना होगा।

सच, इस समय बुद्ध और महावीर के धर्म को जो मानते हैं, उनका बोझ भारी है। वे चाहें तो उस बोझ को पटक सकते हैं। लेकिन, अगर वे उसको उठाए ही रखना चाहते हैं, और चाहते हैं कि वे महावीर के अनुयाई माने जाएं, तो जरूरी हो जाता है कि वे उनकी ज्योति से अपने जीवन को उजला भी करें। ❖

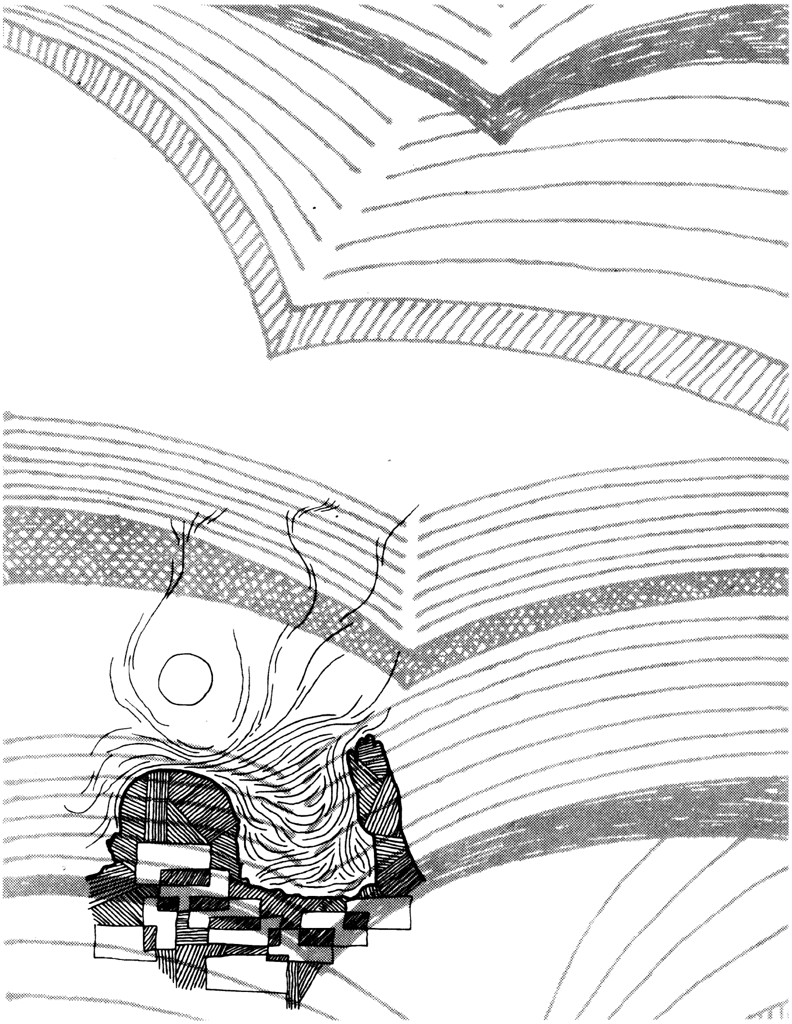

अनुभूति

ओ मेरे पुण्य-प्रभव,
मेरे आलोक-स्नात, पद्म-पत्रस्थ जल-बिंदु,
मेरी आंखों के तारे
ओ ध्रुव, ओ चंचल,
ओ तपोजात,
मेरे कोटि-कोटि लहरों से मंजे एकमात्र मोती
ओ विश्व-प्रतिम,
अब तू इस कृती सीप को अपने में समेट ले,
यह परिदृश्य सोख ले।
स्वाति बूंद! चातक को आत्मलीन तू कर ले!
ओ वरिष्ठ! ओ वरदे! वर ले!

—अज्ञेय

मैत्री को यदि हम व्यापक संदर्भ में समझें तो उसका अर्थ होगा पदार्थ-जगत् और चेतना-जगत् के बीच संतुलन स्थापित करना। आज जो संतुलन बिगड़ गया है—उसे पुनः स्थापित करना मैत्री है, समन्वय है। इन दोनों—पदार्थ जगत् और चेतना जगत्—के बीच जो एक प्रकार की अकल्पित शत्रुता आ गई है, वह मिटे और संतुलन बने—यह है मैत्री। यदि यह नहीं हो सकेगी तो संभव है आदमी की जागृति कम हो जाए।

संतुलन का आधार : मैत्री, सहिष्णुता और शक्ति

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

एक साधक ने कहा—गर्मी बहुत है। प्रश्न साधक का था, यदि कोई दूसरा कहता तो उत्तर मिल जाता कि पंखा चला लो, कूलर का प्रयोग कर लो अथवा वातानुकूलित मकान में चले जाओ। अनेक उत्तर हो सकते थे। किंतु, प्रश्न था साधना का। इसलिए उत्तर भी साधना के अनुकूल होना चाहिए था। गर्मी बहुत है—मन में बहुत उत्तेजना है, मन का उत्ताप बहुत बढ़ गया है। मन में बार-बार शत्रुता का भाव जागता है। मैं मैत्री का मूल्य जानता हूं। उसकी महत्ता से मैं परिचित हूं। मैत्री का बार-बार प्रयोग भी करता हूं, पर वह स्थाई नहीं होता। वह प्रयोग टिकता नहीं। परिस्थिति आती है और पुनः शत्रुता का भाव जाग जाता है। मैत्री का बीजमंत्र मुझे ज्ञात है, पर वह बीजमंत्र मुझमें अंकुरित, पुष्पित और फलित नहीं होता। मुझे क्या करना चाहिए?

मैत्री दिवस क्षमापना पर विशेष जयाचार्यजी का पुण्य स्मरण करते हुए

मैंने पूछा—तुमने दिल्ली का लोह-स्तंभ देखा है?

उसने कहा—जरूर देखा है। वह अशोक लाट के नाम से प्रसिद्ध है। उसे कौन नहीं जानता। प्रत्येक व्यक्ति जानता है।

मैंने पूछा—उसको निर्मित हुए हजारों वर्ष बीत गए। वह खुले आकाश में स्थित है। हजारों वर्षों से वह सर्दी और बरसात के थपेड़े सहता रहा है। फिर भी उस पर कोई जंग नहीं चढ़ा। क्यों?

उसने कहा—हो सकता है जिस लोहे से वह स्तंभ निर्मित हुआ है, उस लोहे में से सल्फर और फॉसफोरस निकाल दिया हो। जब लोहे में से ये दो धातुएं निकाल दी जाती हैं, तब लोहे पर जंग नहीं चढ़ता, उसे मोर्चा नहीं मारता। बहुत ही आश्चर्य की बात है कि प्राचीनकाल में भी इतनी विकसित टेक्निक थी। आज भी वह स्तंभ वैसा का वैसा है।

मैंने कहा—बात सही है। हमारे चित्त में भी जंग नहीं लगता, यदि उसमें से असहिष्णुता का भाव निकाल दिया जाए, कलुषता का भाव दूर कर दिया जाए। इतना होने पर यह संभावना नहीं रहती कि चित्त में शत्रुता का जंग जमे।

बात अच्छी है, किंतु प्रश्न है कि उसे निकाला कैसे जाए?

मैत्री की आराधना : शक्ति की आराधना

इसका उत्तर है कि शक्ति के बिना ऐसा नहीं हो सकता। मैत्री की आराधना का अर्थ है—शक्ति की आराधना। सहिष्णुता एक शक्ति है। शक्ति की जब तक उपासना नहीं होती, मैत्री का भाव स्थाई नहीं हो सकता। दूसरी बात है, शक्ति के बिना कलुषता का निरसन भी नहीं हो सकता। कमजोर आदमी दिन में सौ बार मैत्री का संकल्प करता है और शत्रुता के भाव को मन से निकाल देता है। फिर कोई ऐसी परिस्थिति आती है कि उसके चित्त पर शत्रुता का भाव छा जाता है। चित्त का यह आकाश निर्मल नहीं होता। उसको निर्मल करने के लिए सहिष्णुता की शक्ति चाहिए, निर्मलता की शक्ति चाहिए।

सार्वभौम नियम का ज्ञान

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है—सार्वभौम नियम का ज्ञान। हम नियमों को जानते हैं, पर सार्वभौम नियमों को नहीं जानते। सार्वभौम नियमों को जानने वाला व्यक्ति शत्रुता आदि भावों का कभी आरोपण नहीं करता। किंतु, जब सार्वभौम नियम ज्ञात नहीं होते तब प्रत्येक बात उलटी हो जाती है।

विभिन्न विकिरण : विभिन्न प्रभाव

प्राकृतिक और सार्वभौम नियमों को जानना बहुत आवश्यक होता है। एक व्यक्ति कुछ करता है, एक स्थान पर कोई घटना घटित होती है, कोई कार्य बनता है—वह व्यक्ति, वह घटना या वह कार्य पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं होते। न जाने वे सब कितने प्रभावों से प्रभावित होते हैं! हमारा पूरा जीवन हजारों-हजारों प्रभावों से जुड़कर और बनकर चल रहा है। लोग हमें प्रभावित करते हैं। इस भूमि का वातावरण हमें प्रभावित करता है। आस-पास के पेड़-पौधे हमें प्रभावित करते हैं। पशु-पक्षी हमें प्रभावित करते हैं। न जाने कितने सौरमंडलों के कितने विकिरण आते हैं और मनुष्य को प्रभावित करते हैं।

ज्योतिषियों ने नौ ग्रहों के प्रभाव का अध्ययन कर उसका विस्तार से वर्णन किया है। पर, न जाने और कितने ग्रह हैं, जो प्राणियों को प्रभावित करते हैं। हमारे सुख-दुख को, लाभ-हानि को ये प्रभावित करते हैं। मनुष्य का चिंतन भी उनसे प्रभावित होता है। मनुष्य की गतिविधियां भी प्रभावित होती हैं। वे विकिरण वर्षा और तापमान को तथा आंधी और तूफान को प्रभावित करते हैं। बीमारियां भी उनसे प्रभावित होती हैं।

विकिरण अनेक प्रकार के होते हैं और अनेक प्रकार से मनुष्य को प्रभावित करते हैं। इस स्थिति में कोई भी व्यक्ति शत-प्रतिशत स्वतंत्र है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक व्यक्ति के मन में एक समय एक चाह उत्पन्न होती है। दूसरे प्रकार का विकिरण आता है और वह चाह बदल जाती है, चिंतन बदल जाता है। एक व्यक्ति बड़ी-बड़ी कल्पनाएं करता है, योजनाएं बनाता है, पर यदि सार्वभौम नियम उसका साथ नहीं दें तो सारी कल्पनाएं और योजनाएं व्यर्थ हो जाती हैं। वे फलवती नहीं होतीं।

शत्रु और मित्र के बीच भेदरेखा नहीं

हम इन सारे नियमों को समझें। यदि समझ लेते हैं तो शत्रुता का भाव कम हो जाता है। होता यह है, मनुष्य चाहता है कि मैं अमुक काम करूं। चाह में कोई बाधा आती है और ज्ञात हो जाता है कि अमुक व्यक्ति ने यह बाधा उपस्थित की है, तो वह उसका शत्रु बन जाता है। मनुष्य चाहता है कि मैं सदा आगे की पंक्ति में ही बैठूं और यदि कोई दूसरा वहां आकर बैठ जाता है तो वह उसका शत्रु बन जाता है। मनुष्य चाहता है कि उसकी बात का सब समर्थन करें, पर यदि कोई उसका खंडन कर देता है, उसके प्रतिकूल कुछ कह देता है तो तत्काल शत्रुता का भाव उभर आता है। जब तक प्रियता की पूर्ति होती है, तब तक मित्रता का भाव रहता है और जब वह नहीं होती तब शत्रु-भाव जाग जाता है।

मैंने बहुत चिंतन किया है, पर अभी तक नहीं समझ पाया कि कौन शत्रु और कौन मित्र। शत्रु और मित्र के बीच में कहीं भेद-रेखा नहीं है। एक आदमी जीवन में सौ बार मित्र बनता है और सौ बार शत्रु बनता है। यह स्थूल कथन है। यदि सूक्ष्मता में जाएं तो यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि एक व्यक्ति चिंतन की भूमिका में एक दिन में पचास बार मित्र बन जाता है और पचास बार शत्रु बन जाता है। कहां है भेदरेखा? मेरे चिंतन का समर्थन किया, मेरा मित्र बन गया। दो घंटा पश्चात् मेरे चिंतन का विरोध किया, मेरा शत्रु बन गया। मेरे खेमे में आया, मेरा मित्र बन गया। मेरे से विरोधी खेमे में गया, मेरा शत्रु बन गया। जितनी बार प्रियता और अप्रियता का भाव मनुष्य में जागता रहता है, उतनी बार व्यक्ति शत्रु और मित्र बनता रहता है।

सहिष्णुता : मैत्री का आधार

जयाचार्यजी (आचार्यश्री जीतमलजी) ने आराधना में चेतना को जगाने का, उस काच को स्वच्छ करने का एक

महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया, जो उस कांच को सदा-सदा के लिए स्वच्छ कर देता है। फिर वह साझेदारी का धंधा भी समाप्त हो जाता है। वह स्वर्णिम सूत्र है—सहिष्णुता की शक्ति का विकास।

आज का मनुष्य इतना असहिष्णु है कि वह कुछ भी सहन नहीं कर सकता। आज के युग की यह भयंकर बीमारी है। वह किसी भी घटना को सहन नहीं कर पाता। हीटर और कूलर क्यों चले? जब मनुष्य ऋतु के प्रभाव को सहन करने में असमर्थ हो गया तब इनका आविष्कार हुआ। ऋतु के प्रभाव को सहने की क्षमता आदमी में कम हो गई है। आज जब कुछ समय के लिए बिजली चली जाती है तब आदमी परेशान हो जाता है। गर्मी है, पंखा चाहिए। सर्दी है, हीटर चाहिए। पुराने जमाने के मकानों को देखें। उनके दरवाजे भी छोटे होते और खिड़कियां विशेष होती ही नहीं और यदि कोई होती तो वह भी छोटी ही होती। आज तो शायद पशु भी उन स्थानों में नहीं रखे जा सकते। कुछ असर पशुओं में भी आया है आदमियों का। वे भी खुला स्थान पसंद करते हैं। उन्हें भी मुक्त स्थान चाहिए। किंतु, आश्चर्य होता है कि लोग उन मकानों में कैसे रहते थे?

आचार्य भिक्षु ने सिरयारी गांव में पक्की हाट में चातुर्मास-काल बिताया। अभी भी वह हाट प्रायः मूल की स्थिति में मौजूद है। उस हाट में कोई भी साधु चातुर्मास तो क्या, एक दिन भी रहना नहीं चाहेगा। वह पूरा दिन नए स्थान की खोजबीन में बिता देगा, पर उस हाट में नहीं रह सकेगा। इसका कारण क्या है? कारण बहुत ही स्पष्ट है कि उस जमाने के लोग बहुत ही शक्तिशाली और सहनशील थे। वे हर घटना को सह लेते थे। जैसे-जैसे सुविधाओं का विकास हुआ है, मनुष्य की सहनशक्ति कम हुई है। आज सुविधाओं के प्रचुर साधन उपलब्ध हैं। प्रतिदिन साधनों की नई-नई खोजें हो रही हैं। इसे हम विकास की संज्ञा देते हैं। मैं भी अस्वीकार नहीं करता कि मनुष्य ने इस क्षेत्र में विकास नहीं किया है। उसने विकास किया है और आज भी नए-नए आयाम खोल रहा है।

यह कहे बिना भी नहीं रहा जाता कि पदार्थ जगत् में मनुष्य ने विकास किया है और आंतरिक चेतना के जगत् में, जहां सहिष्णुता का विकास था, उसे खोया है। आज कितना अधैर्य है! असहिष्णुता ही अधीरता को जन्म देती है। आज मनुष्य में धृति है ही नहीं, ऐसा लगता है। यदि मालिक नौकर को दो कड़े शब्द कह देता है तो नौकर तत्काल कहता है—'यह लो तुम्हारी नौकरी। मैं तो चला।' मालिक सोचता है नौकर चला गया तो क्या होगा? वह स्वयं नौकर से कहता है—'चलो, आगे से कुछ नहीं कहूंगा।' सारा चक्का उलटा घूम गया। प्राचीनकाल में मालिक नौकर को कितने अनुशासन में रखता था और नौकर स्वामी का कितना विनय करता था। नौकर कितना सहिष्णु होता था। आज पिता पुत्र को कुछ भी कहने से पूर्व दस बार सोचता है कि इस बात का पुत्र पर क्या असर होगा? कभी-कभी वह पूरी बात कह भी नहीं पाता। अधूरी बात कहकर ही विराम कर लेता है।

आज प्रत्येक व्यक्ति अधीर है। अधीरता सीमा को लांघ चुकी है। मनुष्य ने प्रकृति की सर्दी-गर्मी को सहने की क्षमता को ही नहीं गंवाया है, उसने सार्वभौम सर्दी-गर्मी को सहने की क्षमता भी खोई है।

अनुकूल-प्रतिकूल

आचारांग सूत्र के एक अध्ययन का नाम है—शीतोष्णीय। इसका अर्थ है—सर्दी और गर्मी। अनुकूल को सहने का नाम है सर्दी और प्रतिकूल को सहने का नाम है गर्मी। कभी जीवन में सर्दी आती है, अनुकूलता आती है और कभी जीवन में गर्मी आती है, प्रतिकूलता आती है। कभी मन के अनुकूल घटना घटित होती है और कभी मन के प्रतिकूल घटना घटित होती है। संयमी वह होता है, साधक वह होता है जो सर्दी और गर्मी, अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों प्रकार की घटनाओं को सह लेता है। जो व्यक्ति इस अवस्था में पहुंच जाता है, उसके मन में शत्रुता का भाव नहीं पनपता।

आज सहिष्णुता का मानस ही नहीं रहा। आदमी बड़ा विचित्र है। गर्मी अधिक होती है तो वह गर्मी को गालियां देने लग जाता है और सर्दी अधिक होती है तो वह सर्दी को गालियां देने लग जाता है। आदमी का मानस ही ऐसा बन गया है कि प्रत्येक बात मन के अनुकूल होनी चाहिए, कोई भी बात मन के प्रतिकूल नहीं होनी चाहिए। जहां भी मन के प्रतिकूल कुछ भी घटित होता है, आदमी के मन में शत्रुता का भाव जाग जाता है।

स्वार्थभावना

जयाचार्यश्री ने लिखा है—जहां अपना स्वार्थ नहीं सधता, आदमी में शत्रुभाव जाग जाता है। किसी भी व्यक्ति के प्रति अनुराग तब तक ही रहता है जब तक स्वयं का स्वार्थ सधता रहता है। जैसे ही स्वार्थ पर चोट होती है सारा अनुराग टूट जाता है। तब देवतुल्य पिता यमराज बन जाता

है, सास डाकिन बन जाती है और गुरु भी और कुछ बन जाते हैं। बड़ी दयनीय स्थिति होती है।

सुविधा पुष्ट : चेतना दुर्बल

पदार्थ जगत् का विकास चरम सीमा तक पहुंच रहा है। सभ्यता भी विकसित हुई है। मैं नहीं कहता कि आज वैसे मकान बनें जिनमें खिड़कियां न हों। मैं नहीं कहता कि आदमी पंखों का, कूलर और अन्य साधनों का उपयोग न करे। ऐसा कहना प्रतिकूल बात होगी। किंतु यह मैं अवश्य ही कहूंगा कि आज के मनुष्य ने सुविधा को अपना लक्ष्य बना लिया और सुविधावादी साधनों को जुटाने में सभ्यता और संस्कृति को आगे बढ़ाना मान लिया। उसका परिणाम यह हुआ कि आदमी का चेतना-जगत् उतना ही दुर्बल हो गया।

संतुलन आवश्यक

हमारी दो दुनियाएं हैं—एक है पदार्थ की दुनिया और एक है चेतना की दुनिया। दोनों का संतुलन जब बिगड़ता है, तब समस्याएं उत्पन्न होती हैं। आज दोनों का संतुलन बिगड़ता जा रहा है, बिगड़ गया है। पदार्थ जगत् को विकसित करने का अपार प्रयत्न हो रहा है। मनुष्य चेतना-जगत् को भूलता जा रहा है। सुख और दुख की अनुभूति चेतना के जगत् में होती है। शत्रुता और मित्रता का भाव चेतना के जगत् में उत्पन्न होता है। हमारी सारी संवेदनाएं, धारणाएं और मान्यताएं चेतना के जगत् में बनती हैं। हमारे ज्ञान का जगत् है—चेतना का जगत्। हमारी अनुभूति का जगत् है— चेतना का जगत्। विकास का जगत् है—पदार्थ का जगत्। हम पदार्थ-जगत् को अंधाधुंध रूप से विकसित करते जा रहे हैं और जहां सारी संवेदनाएं घटित होती हैं, उस चेतना-जगत् को विस्मृत करते जा रहे हैं, ठुकराते जा रहे हैं। प्रकृति के प्रांगण में यह इतना बड़ा असंतुलन पैदा हो गया है। यदि यह असंतुलन न मिटा तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि मनुष्य की पदार्थ-चेतना उसकी आंतरिक चेतना पर इतनी हावी हो जाएगी कि पदार्थ ही शेष बचेगा, चेतना उसके नीचे दब जाएगी।

मैत्री को यदि हम व्यापक संदर्भ में समझें तो उसका अर्थ होगा पदार्थ-जगत् और चेतना-जगत् के बीच संतुलन स्थापित करना। आज जो संतुलन बिगड़ गया है—उसे पुनः स्थापित करना मैत्री है, समन्वय है। इन दोनों—पदार्थ जगत् और चेतना जगत्—के बीच जो एक प्रकार की अकल्पित शत्रुता आ गई है, वह मिटे और संतुलन बने—यह है मैत्री। यदि यह नहीं हो सकेगी तो संभव है आदमी की जागृति कम हो जाए।

जागृति में ही अपूर्व उपलब्धि

सूफी संत हफीज और उनके साथी अपने गुरु के पास थे। रात का समय। शिष्य गहरी नींद में सो गए। गुरु जाग रहे थे। उनके मन में चेतना जागी। उन्होंने शिष्यों को आमंत्रित करते हुए कहा—आओ, एक नई स्फुरणा जागी है। ज्ञान की एक किरण प्रस्फुटित हुई है। मैं तुम्हें सुनाना चाहता हूं। सभी शिष्य सो रहे थे। हफीज जाग रहा था। वह गुरु के पास आया। गुरु ने अपना नया ज्ञान उसमें संक्रांत कर दिया। धन्य हो गया वह। वह बोला—बहुत अपूर्व ज्ञान आपने दिया। वह चला गया। आधा घंटा बीता होगा कि फिर गुरु ने शिष्यों को पुकारा। सब गहरी नींद में थे। कोई नहीं जागा। हफीज जाग रहा था। वह तत्काल गुरु के पास आया, बोला—क्या आदेश है? गुरु ने कहा— अभी-अभी एक और नई ज्ञान-किरण उपलब्ध हुई है। मैं देना चाहता हूं। हफीज हाथ जोड़े खड़ा रहा। गुरु ने ज्ञान दे दिया। दो-तीन बार ऐसी घटनाएं घटी और हफीज नए ज्ञान से भर गया।

हफीज को नई उपलब्धि तभी हुई कि जब उसकी चेतना जाग रही थी। जागृति में ही अपूर्व ज्ञान जागता है। नए उन्मेष आते हैं और नई स्फुरणाएं जागती हैं। सुषुप्ति में सारा ज्ञान अज्ञान में बदल जाता है।

खमतखामणा

आज पदार्थ का विकास हो रहा है, किंतु चेतना का नहीं। संभव है, मनुष्य को एक दिन ऋतुओं से, प्रकृति से और व्यक्तियों से खमतखामणा—क्षमायाचना करनी पड़े कि मैंने चेतना को सुला दिया और पदार्थ को जगाए रखा। यह मुझसे बड़ा अपराध हुआ है। मैं इसके लिए क्षमायाचना करता हूं।

आराधना का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—खमतखामणा, क्षमा मांगना, अपनी भूलों के लिए क्षमा मांगना। आज के आदमी को अपनी भूलों के लिए बहुत क्षमा मांगनी पड़े। साधक छोटी-सी भूल के लिए भी क्षमायाचना करता है। आज का वैज्ञानिक, समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री और नेता—ये सब इतना बड़ा अपराध कर रहे हैं—पदार्थ की एकांगी विकास की प्रक्रिया को चलाकर और चेतना को सुलाकर—कि उन्हें एक दिन कहना पड़ेगा कि हमने बड़ा अपराध किया है, हम क्षमा चाहते हैं। संभव है, उनको क्षमा देने वाला तब एक भी आदमी न मिले, क्योंकि अपराध बहुत ही घोर है।

खमतखामणा का वास्तविक अर्थ

खमतखामणा आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उसका तात्पर्य है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में

असहिष्णुता का भाव आ जाए, कलुषता का भाव जाग जाए, उसे ज्ञात हो या नहीं, वह जाने या न जाने, किंतु तुम अपनी ओर से क्षमा मांग लो, सहन कर लो। अपनी मैत्री को मत खोओ। उसे शत्रु मत मानो। यह महान व्यक्तित्व की महान प्रक्रिया है। वह इतना विराट् व्यक्ति बन जाता है कि उसके सामने फिर शत्रु जैसा कोई व्यक्ति नहीं होता। भगवान महावीर को देखें। अन्यान्य साधकों को देखें। वे सब अपनी साधना के द्वारा ही महान बने थे। किंतु, कुछ गृहस्थ भी इतने महान होते हैं कि उनकी घटनाओं को देखकर, पढ़कर आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

शत्रुओं की समाप्ति कैसे?

एक बार कुछ लोगों ने लिंकन से कहा—'आपके हाथ में संपूर्ण सत्ता है। आप इसका उपयोग अपने शत्रुओं को समाप्त करने में क्यों नहीं करते? अपने विरोधियों को समाप्त करने का यह स्वर्णिम अवसर है। आप उन्हें कुचल क्यों नहीं देते? राजनीति कहती है कि वही समझदार नेता होता है जो विरोधियों के अस्तित्व को उखाड़कर फेंक देता है। आप ऐसा न कर एक भयंकर भूल कर रहे हैं। इस भूल के भयंकर परिणाम भोगने होंगे।' लिंकन ने कहा—'जो आप कहते हैं, वही तो मैं कर रहा हूं। मैं अपने शत्रुओं को मार रहा हूं, विरोधियों को समाप्त कर रहा हूं। आप चौंकें नहीं। जितने मेरे शत्रु हैं, उन सबको मैं अपना मित्र बना रहा हूं। उनके साथ शिष्ट व्यवहार कर उनकी शत्रुता को धो रहा हूं। कुछ ही समय बाद वे सब मेरे मित्र बन जाएंगे। क्या यह शत्रुओं को, विरोधियों को समाप्त करना नहीं है?'

इतनी विराट् चेतना, इतनी विराट् कल्पना जब किसी गृहस्थ में जागती है तब प्रतीत होता है कि चेतना का विकास हो सकता है। जब वह चेतना जागती है, तब एक अकल्पित अवस्था की स्थिति उपलब्ध हो जाती है।

इकोलॉजी : अहिंसा-जगत् का विकास

आराधना का कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मैत्री का विकास, मैत्री के विकास के लिए शक्ति का विकास और शक्ति के विकास के लिए सहिष्णुता का विकास, निर्मलता का विकास। जब ये सब विकास हमारी चेतना में घटित होते हैं, तब दृष्टि का रूपांतरण होता है। हम तब सचमुच 'इकोलॉजी' के सिद्धांत की परिधि में आ जाते हैं। इसका विकास जितना अहिंसा के जगत् में हुआ है, आज तो उसका पुनरावर्तन हो रहा है, बहुत ही थोड़े अंशों में। परस्परावलंबन, सहयोग और परस्पर-निर्भरता—ये सब प्रकृति के कण-कण से जुड़े हुए हैं। ये सब अहिंसा के सिद्धांत में बहुत विकसित हुए हैं।

उदात्त चेतना की परिणति

जयाचार्यश्री ने इस सारी धारणा को बहुत सरल शब्दों में सुंदर अभिव्यक्ति दी है। जब साधक अपनी उदात्त चेतना की भूमिका पर आरोहण कर बोलता है तो वह इसी भावना की अभिव्यक्ति से शुरू करता है—'दुनिया में जितने जीव हैं, उनके प्रति जाने-अनजाने मैंने वर्तमान जन्म में या अतीत जन्म में कोई अपराध किया हो, किसी का अतिक्रमण किया हो तो मैं सबका प्रायश्चित्त करता हूं, सहन करता हूं सब कमजोरियों को और उनसे क्षमा-याचना करता हूं।' जब यह स्वर अंतर-आत्मा की भूमिका में मुखर होता है तब ऐसी वर्षा बरसती है जिससे सारे मैल धुल जाते हैं। हमारी चेतना का आकाश, और सामने वाले व्यक्ति की चेतना का आकाश भी, निर्मल और चमकने वाले तारों से संयुक्त होकर दिग्-दिगंत को आलोकित कर देता है।

सुहावना मौसम। एक घनघोर घटा उठी। जल बरसा। भूमि की गर्मी शांत हो गई। सारा मैल धुल गया। सारे पेड़-पौधे चमक उठे। अपेक्षा है, हमारी चेतना के आकाश में भी कोई घटा उमड़े, बरसे और वेग के साथ बरसे और गर्मी शांत हो जाए।

उत्तेजना की गर्मी कम नहीं है। जेठ की चिलचिलाती धूप में जितनी गर्मी होती है उससे ज्यादा गर्मी है उत्तेजना में, उसका तापमान बहुत अधिक है। गर्मी में आदमी झुलसता है, कठिनाई का अनुभव करता है, तो उत्तेजना का तापमान भी कम कठिनाई पैदा नहीं करता। वह चेतना को झुलसा देता है।

एक वैज्ञानिक ने खोज की कि प्राचीनकाल में मनुष्य के शरीर का तापमान कम था, इसलिए वह दीर्घायु होता था, चिरंजीवी होता था। आज तापमान बढ़ गया, इसलिए आयु घट गई। यदि इस तापमान को घटाया जा सके, तो आदमी दीर्घजीवी हो सकता है।

तापमान, गर्मी बहुत बुरी होती है। वह शरीर के कण-कण को झुलसा देती है और प्राणशक्ति को सुखा देती है। इस स्थिति में ऐसी कोई घटा उमड़े, बरसे और तापमान को शांत कर दे। गर्मी घटे और सारा मैल धुल जाए।

चेतना की भूमि पर भी बहुत मैल जमा हुआ है। इस चेतना के साथ पनपने वाले पेड़-पौधों पर भी बहुत मैल जमा हुआ है। धूल जमी हुई है। मैत्री की बरसात से सारी मलिनता धुल जाए। सब-कुछ चमक उठे। सब में निखार आ जाए। यह बहुत बड़ी अपेक्षा है। ❖

आचार्य के लिए आगम में—'गण-तत्ति विप्पमुक्को'—'गण की चिंताओं से मुक्त'—विशेषण आता है। वह जयाचार्य जैसे शिष्यों द्वारा ही सार्थक किया जाता है। संघ को सुदृढ़ बनाए रखना, विघटन न होने देना, विघटन की स्थिति अनिवार्य हो जाए तो उसका साहसपूर्वक सामना करना—इन सभी कार्यों में युवाचार्य जीतमलजी आचार्यश्री के निपुण सहयोगी रहे। विघटित तत्त्वों को पुनः एकीकरण में बांध लेने की भी उनमें अपूर्व सूझबूझ थी।

विवेक और विराग का सुदृढ़ मस्तूल

मुनि बुद्धमल्ल

जयाचार्यजी (आचार्यश्री जीतमलजी) के जीवन के प्रत्येक पहलू के साथ कुछ-न-कुछ नवीनता जुड़ी हुई दिखाई देती है। लगता है कि प्रकृति ने उनके साथ किसी गुप्त रहस्य के तार संयुक्त कर रखे थे। उनका युवाचार्य-पद भी इसका अपवाद नहीं रहा। आचार्यश्री ऋषिराय ने न जाने कौनसी आंतरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर उनको युवाचार्य-पद दिया। तब वे वहां से बहुत दूर थे। कुछ अरसे तक उसे प्रकट भी नहीं किया गया।

मुनि जीतमलजी ने संवत 1893 का चातुर्मास बीकानेर में करने के पश्चात् शेषकाल का अधिकांश समय थली में ही व्यतीत किया। उसके पश्चात् संवत 1894 का चातुर्मास करने के लिए वे आषाढ़ में पाली पहुंचे। उन्हीं दिनों आचार्यश्री ऋषिराय मेवाड़ में विहार करते हुए चातुर्मास करने के लिए आषाढ़ के महीने में नाथद्वारा पधारे। वहां उन्होंने एक पत्र लिखकर अपने उत्तराधिकारी के रूप में मुनि जीतमलजी को नियुक्त किया। वह पत्र मुनि सरूपचंदजी को देते हुए उन्होंने कहा कि अभी इसे प्रकट मत करना। चातुर्मास के पश्चात् जब जीतमल से मिलेंगे, तभी प्रकट करने का विचार है।

जयाचार्य निर्वाण दिवस
भाद्रपद कृष्णा द्वादशी
(20 अगस्त)
सादर स्मरणांजलि

पाली-चातुर्मास में मुनि जीतमलजी आदि पांच संत थे। चातुर्मास की समाप्ति पर विहार करके वे खेरवा आए। उनके साथ के तपस्वी मुनि रामसुखजी चातुर्मास-काल में की गई लंबी तपस्या के कारण विहार के लिए पूरे समर्थ नहीं हो पाए थे। अतः उन्हें तथा एक अन्य मुनि को उनकी सेवा में वहीं छोड़कर मुनि जीतमलजी ने 'बड़ी फलोदी' की तरफ विहार कर दिया। वहां से गुरु-दर्शनार्थ मेवाड़ की ओर विहार करते हुए वे 'खीचन' पहुंचे। उधर से आचार्यश्री ऋषिराय द्वारा भेजे गए दो साधु भी वहां पहुंच गए। संतों ने वंदन, सुख-पृच्छा आदि के पश्चात् कुछ मौखिक समाचार कहे। फिर स्वयं आचार्यश्री ऋषिराय द्वारा लिखे गए दो पत्र उनको समर्पित किए। उनमें से एक पत्र बड़ा था और खुला था। उसमें सुखसाता के समाचार थे तथा उन्हें शीघ्रतापूर्वक पहुंचने के लिए लिखा गया था। दूसरा पत्र बंद था। उसे मुनि जीतमलजी के सिवाए अन्य संतों को खोलने व पढ़ने की

मनाही थी। मुनि जीतमलजी ने उसे खोलकर पढ़ा तो उनकी आकृति पर एक साथ ही कुछ गंभीरता छा गई। यह युवाचार्य-पद की नियुक्ति का पत्र था। वे उसे हाथ में लिए हुए कुछ देर तक निःस्पंद-से होकर यों निहारते रहे, मानो उसे दुबारा पढ़ रहे हों। पत्र के पीछे की ओर कुछ भी नहीं लिखा था, फिर भी उन्होंने उसे उलट कर यों देखा मानो जो लिखा हुआ था, वह पर्याप्त न हो और वे कुछ अधिक विस्तार से जानना चाह रहे हों। आचार्यश्री ऋषिराय के सुलेख को पहचानते हुए भी मानो प्रत्येक अक्षर के अंतःगमों को वे हृदयंगम कर रहे हों। चिंतन और मनन की मुद्रा में वे ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो उस पत्र की अलिखित भूमिका का अवगाहन कर रहे हों। दूरस्थ प्रवास-रत आचार्यश्री के मानसिक संकल्पों के साथ तादात्म्य स्थापित करते हुए उन्हें आत्मसात् करने का प्रयास कर रहे हों। वे भावी की आकृति पर कुछ पढ़ रहे थे और पास में खड़े संत उनकी आकृति पर कुछ पढ़ लेने का प्रयत्न कर रहे थे।

मुनिश्री ने सहसा पत्र को बंद किया और संतों से आगामी विहार के विषय में बातचीत करने लगे। एक मंजिल सबके साथ रह कर उन्होंने धीमे चलने वाले तीन संतों को पीछे से आने को कहा और स्वयं एक मुनि को साथ लेकर आगे बढ़े। उन्होंने आचार्यश्री के दर्शन होने से पूर्व किसी भी ग्राम में दो रात न ठहरने का निश्चय किया और यदि ठहरना ही पड़े तो वहां चारों आहार का प्रत्याख्यान कर दिया। वहां से तेज विहार करते हुए जोधपुर, पाली, खेरवा और बांता होकर उन्होंने मेवाड़ में प्रवेश किया। आगे केलवा तथा राजनगर होकर नाथद्वारा पधार गए।

इस तरह हुई घोषणा

नाथद्वारा में चातुर्मास संपन्न करने के पश्चात् आचार्यश्री ऋषिराय उदयपुर की ओर पधार गए थे। वहां से वे भी नाथद्वारा पहुंच गए। मुनि जीतमलजी ने सामने जाकर गुरु-दर्शन किए। आचार्यश्री ऋषिराय ने उसी दिन जनता में मुनि जीतमल को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। यद्यपि लगभग पांच महीने पूर्व वे इसकी व्यवस्था कर चुके थे, परंतु उसका पता प्रायः किसी को नहीं था। मुनि जीतमलजी की योग्यता और विशेषताओं से प्रायः सभी परिचित थे। एक सुयोग्य भावी शासन-पति का नाम सुनकर सभी आनंदातिरेक में निमग्न हो गए।

आचार्य के लिए आगम में—**गण-तत्ति विप्पमुक्को**—'गण की चिंताओं से मुक्त'—विशेषण आता है। वह जयाचार्य जैसे शिष्यों द्वारा ही सार्थक किया जाता है। संघ को सुदृढ़ बनाए रखना, विघटन न होने देना, विघटन की स्थिति अनिवार्य हो जाए तो उसका साहसपूर्वक सामना करना—इन सभी कार्यों में युवाचार्य जीतमलजी आचार्यश्री के निपुण सहयोगी रहे। विघटित तत्त्वों को पुनः एकीकरण में बांध लेने की भी उनमें अपूर्व सूझबूझ थी।

अनुशासन की कसौटी

अनुशासन संबंधी एक कार्य तो जयाचार्य के सम्मुख युवाचार्य बनने के कुछ समय पश्चात् ही ऐसा आया, जो काफी चिंताजनक था। उन्होंने उसे ऐसी दृढ़ता से संभाला कि देखने वाले चकित रह गए। उस कार्य में आचार्यश्री ऋषिराय को विशेष कुछ नहीं करना पड़ा। प्रायः आदि से अंत तक युवाचार्यश्री ने ही उसको भुगता दिया। उस समय पुर में तपस्वी मुनि गुलाबजी, मुनि ईसरजी, मुनि उदयरामजी, मुनि रामोजी और मुनि जीवराजजी—ये पांच मुनि थे। उनमें मुनि गुलाबजी तपस्वी होने के साथ ही काफी विराग-भावना वाले गिने जाते थे। आस-पास की जनता में उनके प्रति बहुत आदर-भाव था। तपस्वी और विरागी होना एक बात है, जबकि विवेकी होना बिलकुल ही दूसरी बात है। यद्यपि तपस्वी और विरागी व्यक्ति विवेकी भी होते हैं, परंतु सबके लिए वैसा होना नितांत निश्चित नहीं है। विवेक के लिए जिस विश्लेषणात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है वह सब में परिपूर्ण मिल जाए, यह असंभव है। फिर तपस्या और विवेक कोई इतरेतराश्रित भाव तो हैं नहीं कि एक के भाव में दूसरे का भी भाव मान ही लिया जाए।

इस तरह की विरोधाभासी परिस्थितियों में ही अनुशासन और उसके प्रति पूरी दृढ़ता कसौटी पर मानी जाती है। जयाचार्यजी के सामने ऐसी अनेक कसौटियां आईं, पर वे सभी पर खरे उतरे।

पृथक चातुर्मास : जनमानस प्रभावित

युवाचार्य-पद देने के पश्चात् भी जयाचार्य को प्रायः पृथक क्षेत्रों में ही चातुर्मास करवाए जाते रहे। ऋषिराय का विचार था कि ऐसा करने से दो क्षेत्रों में धार्मिक जागृति होती है। वास्तविकता भी यही थी। युवाचार्यश्री जहां-जहां पधारते, वहां-वहां धार्मिक चर्चाओं तथा जन-संपर्क की बाढ़ आ जाती। उनके तर्कसंगत उत्तर जन-मानस को बहुत प्रभावित करते।

संवत 1906 में युवाचार्यश्री का चातुर्मास बीकानेर

करवाया गया। वे अग्रणी अवस्था में भी बीकानेर में दो चातुर्मास कर चुके थे। उन्हीं के प्रभाव से वह क्षेत्र बना था। अब युवाचार्य-अवस्था में जब वे वहां पधारे तो लोगों में अपार उत्साह भर गया। उनका नाम सुनकर अनेक नए व्यक्ति संपर्क में आने लगे। उस चातुर्मास में अनेक परिवार तेरापंथी बने। महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के श्रद्धाशील बनने के कारण युवाचार्यश्री का वह चातुर्मास विशेष रूप से सफल माना गया।

आज्ञा में गली कैसी

आचार्यश्री ऋषिराय ने युवाचार्यश्री जय को संवत 1907 का चातुर्मास बीदासर करने की आज्ञा प्रदान की। वे आषाढ़ मास में चातुर्मास करने के लिए बीदासर पहुंच गए। आचार्यश्री ऋषिराय भी अपना चातुर्मास करने के लिए जयपुर पधार चुके थे। वहां पर बीकानेर के प्रमुख श्रावकों ने ऋषिराय के पास प्रार्थना भेजी कि इस वर्ष युवाचार्यश्री जय को पुनः बीकानेर चातुर्मास करने की आज्ञा दी जाए। यहां अच्छा उपकार होने का अवसर है। मदनचंदजी राखेचा जैसे महत्त्वपूर्ण और विश्वसनीय व्यक्ति ने जब प्रार्थना करवाई तो ऋषिराय ने उस पर तत्काल ध्यान दिया और उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। चूंकि युवाचार्यश्री पिछले वर्ष बीकानेर में चातुर्मास कर चुके थे, अतः इस वर्ष का चातुर्मास वहां तभी कल्प सकता था जब कोई दीक्षा-वृद्ध साधु उनके साथ रहे। इसलिए मुनि सरूपचंदजी को साथ लेकर वहां चातुर्मास करने के लिए उन्हें आदेश दिया गया।

यह समाचार जब बीदासर पहुंचा तो वहां के भाइयों को वह परिवर्तन काफी खटका। गर्मी के दिन थे, लू इतनी तेज चल रही थी कि दुपहरी में घर से बाहर निकलना भी एक साहस का ही काम था। मार्ग के छोटे ग्रामों में अचित्त पानी का योग मिलना भी काफी दुष्कर था। इन सब कठिनाइयों को सामने रखते हुए लोगों ने युवाचार्यश्री से वहीं चातुर्मास करने की प्रार्थना की। सहवर्ती साधुओं का मन भी विहार करने से कसमसा रहा था।

युवाचार्यश्री ने ध्यानपूर्वक सबकी बातें सुनीं और कहा—'तुम कहते हो, वह सब तो ठीक है, पर गुरुदेव की आज्ञा इन सबसे ऊपर है। उसकी पूर्ति तो होनी ही चाहिए।'

उपस्थित लोगों में से किसी एक ने कहा—'आचार्यश्री की आज्ञा तो है, पर आप उसमें कोई गली निकालिए।'

युवाचार्यश्री ने तत्काल उसे टोकते हुए कहा—'यह तुम क्या कह रहे हो? गली तो कोई 'गोला' या कामचोर नौकर ही निकालता है। यह तो सद्गुरु की आज्ञा है, इसमें गली निकालने जैसी कोई बात नहीं होती।'

युवाचार्य जय अनुशासन की दृढ़ता में विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे। अनुशासन भंग करने तथा उसमें गली निकालने को वे अक्षम्य अपराध मानते थे। इसलिए उन्होंने उस भयंकर गर्मी में भी वहां से विहार कर दिया।

युवाचार्य जय का संवत 1907 का चतुर्मास बीकानेर के लिए अत्यंत उपयोगी रहा। पिछले सभी चातुर्मासों की अपेक्षा उसमें अधिक उपकार हुआ। अनेक नए परिवार श्रद्धाशील बने। अन्य जैनों पर उस चातुर्मास में युवाचार्यश्री के पांडित्य का व्यापक प्रभाव पड़ा।

योग्य परामर्शक

जयाचार्यजी संघ की व्यवस्था में साधारण मुनि-अवस्था से ही प्रायः रुचि रखने लगे थे। युवाचार्य बना देने के पश्चात् तो उस विषय में अधिक सजग रहने की प्रवृत्ति स्वाभाविक ही थी। आचार्यश्री ऋषिराय समय-समय पर संतों को अनेक प्रकार की बख्शीशें करते रहे थे। किसी को उन्होंने पृथक विहार-क्षेत्र देने का वचन दिया था तो किसी को चतुर्थ मुनि देने का और किसी को कोई प्रति देने का। इस प्रकार विभिन्न व्यक्तियों को उन्होंने लिखित रूप में विभिन्न छूटें दी थीं।

संवत 1902, पौष कृष्णा 11 को बीठोड़ा के बाहर तालाब के पास वृक्षों की छाया में एक बार ऋषिराय पीछे आने वाले संतों की प्रतीक्षा कर रहे थे। युवाचार्यश्री उनके पास थे। एकांत का अवसर देखकर उन्होंने ऋषिराय से एक प्रार्थना की—'पृथक-पृथक विहार-क्षेत्र दे देने से कालांतर में ऐसी स्थिति पैदा होने की संभावना हो सकती है कि एक सिंघाड़े के क्षेत्र में दूसरे सिंघाड़े का चला जाना असह्य लगने लगे। अधिक छूटें संघ में पारस्परिक भेद भी खड़ा कर सकती हैं। इसलिए इसमें संकोच से ही काम लेना आवश्यक लगता है।'

युवाचार्यश्री का वह कथन आचार्यश्री ऋषिराय को उपयुक्त लगा।

संघ की आंतरिक व्यवस्था में उन्होंने प्रारंभ से ही अपनी प्रतिभा का जो उपयोग किया, वह उनकी योग्यता का परिचायक तो था ही, साथ ही संघ की उन्नति और संगठन की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। ❖

ज़िंदगी की आज की समस्याएं पुराने हल से ही नहीं सुलझेंगी। पुराने और नए, दो अलग रास्ते हैं, वह कहीं नहीं मिलते। माला के दाने सूत से मिले रहते हैं, पर वे आगे-पीछे नहीं हो सकते। हम हिम्मत और 'स्पिरिट' तो कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद की अपनाएंगे, पर हम हम ही रहेंगे। स्टालिन लेनिन बनने चलता, तो न लेनिन बनता और न स्टालिन। मुस्तफा-कमाल खलीफा उमर बनने की कोशिश करता तो तुर्की का यह नक्शा ही न होता, गांधी ने गीता पढ़ी, सुदर्शन चक्र नहीं संभाला। जैन उसे जैन कहने लगे, ईसाई ईसाई, मुसलमान मुसलमान, और हिंदू हिंदू। वह तो गांधी ही है। हम, हम बनें। माला में अपनी जगह के मोती बने रहो। हिम्मत के सूत्र के सहारे टिके चमकते रहो।

किसमें है आपका सुख

महात्मा भगवानदीन

पहले यह समझ लें कि सुख है क्या? लेकिन यह क्या कोई समझने की चीज है? मैं तो तभी अपने को सुखी मानूंगा, जब मुझ को वह सुख मिले, जिसे मैं चाहता हूं। मैं प्यासा हूं, मुझे पानी पिलाकर ही आप सुख पहुंचा सकते हैं। न रजाई उढ़ाकर और न धर्म का उपदेश सुनाकर। प्यासा पानी पीकर ही सुखी होगा, पर न एक घूंट पानी उसको सुखी कर सकता है और न एक घड़ा। उसे एक गिलास ही पानी सुखी कर सकता है। पर क्या मैं आपसे यह पूछूं कि अगर आप भी प्यासे हों और आपका कोई बहुत प्यारा भी—और पानी हो सिर्फ एक गिलास—तब आपका सुख किसमें होगा? तब मेरा सुख होगा, उस प्यासे को—अपने प्यारे को—पानी पिला देने में और खुद प्यासे मर जाने में। अगर यह बात है तो आपको सुख का मतलब समझने की जरूरत नहीं।

सुख को सब समझते हैं, और खूब समझते हैं। ठीक समझते हैं। सुख एक ही किस्म का है और वह है उसके मन की भावना में। फिर दुनिया दुखी क्यों? अपने अंदर के सुख को क्यों नहीं पा लेती? बात असल में यह है कि उस अंदर की चीज को पाने की हिम्मत भी चाहिए। हिम्मती ही सुखी है। हिम्मत का ही नाम सुख है। सीता में हिम्मत थी, चल दी पति के साथ जंगल। जंगल में नंगे पांव चलकर पड़े छाले दुख देते होंगे देखने वालों को, या आज रामायण सुनने वाले भक्तों को, पर वह सीता को दुख नहीं देते थे। दुखी थी कम हिम्मती उर्मिला, जो रिवाजों की दासी बनी रही और महलों के दुख-सुख भोगती रही। क्यों न चल दी पति के साथ? उसके लिए मैथिलीशरण गुप्त आंसू बहाकर उर्मिलाशरण भले ही बन जाएं, वाल्मीकि और तुलसी उसे दुनिया के सामने लाने की हिम्मत नहीं कर सके। उन्होंने हिम्मती जानकी को आदर्श मानकर जानकीशरण बने रहने में ही अपना और औरों का भला समझा। जानकी सुखी थी और आजीवन सुखी रही। सुखी होने के लिए इस सुखी सीता को नमूना

समझकर रूढ़ियों के कांटों को कुचलते, पांवों में छाले डालते, आगे बढ़ते चल जाने की जरूरत है।

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं

यह सूत्र उसके मुंह से निकला मालूम होता है, जो देश-फरोशी, दिमाग-फरोशी, आत्मा-फरोशी करके दुश्मन के हलवे-मांडे पर पलकर मोटा-ताजा होता जाता है और चैन नहीं पाता तथा सुख जिससे हर घड़ी दूर होता जाता है। वह हिम्मत कर पीले और सफेद ठीकरों पर लात मारता है तथा खुली हवा में दम लेकर, परिंदे की तरह चहचहा उठता है :

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं,
निजाधीन दुख सुख बन जाहीं।

भगवान कृष्ण ने अर्जुन के साथ और किया ही क्या था? उसकी सोई हुई हिम्मत जगाई थी। वह दुविधा में था। दुविधा ही दुख है। दुविधा हिम्मत की कमी का दूसरा नाम है। दुविधा यही तो है कि रूढ़ियों-रिवाजों का गुलाम बनकर चला जाए या अंतरात्मा, जमीर की हुक्मबरदारी की जाए। अर्जुन को यही तो सोच था—'लोग क्या कहेंगे', इसकी परवाह करूं या—'मेरा भगवान् क्या कहेगा', इसकी?' उसका भगवान् कौन? उसके मन में बैठा राम। वही राम तो कृष्ण है। वही राम सात सौ श्लोकों की गीता मैदान-ए-जंग में कुछ सैकिंडों में सुनाकर अर्जुन की कमान पर तीर चढ़ा देता है। वह तीर चढ़ाने वाला, हम सबके मन में बैठा है। 'बस, जरा गर्दन झुकाओ, देख लो।'

और हमारे प्यारे नबी—मुहम्मद—ने क्या किया? ईरान, रोम और ईथियोपिया के गुलाम अरबों में हिम्मत फूंक दी। काबे के तीन सौ साठ बुत, काबे में ही थे, पर हमारे नबी और उनके सच्चे साथियों के दिल में वे लकड़ी के तीन सौ साठ टुकड़े थे। बुत, काबे की ईंट-पत्थर की तरह नबी की नजरों में, लकड़ी का ढेर थे; तभी तो वह बुतों के वहां रहते हुए भी काबे का तवाफ (परिक्रमा) कर गए। नबी बुत-शिकन नहीं थे। वह बुजदिली-शिकन थे। कायरता को कुचल डालने वाले थे। लकड़ी-पत्थर तोड़ते वह क्या भले लगते, उन्होंने तोड़ी गुलामी, बुजदिली, कायरता, अरबों के दिल से कायरता हटी, हिम्मत आई, बुत दिल से हटे, फिर काबे से भी उठ गए और लकड़ी लकड़ी की तरह काम में आ गई। यह याद रखिए, बुत-शिकनी बुत-परस्ती है। बुत-शिकन बुत को खुदा मानकर उसको तोड़ने जाता है और दिल में सोचता और कहता जाता है—'मैं तुझे तोड़ता हूं, बता तू मेरा क्या बिगाड़ सकता है?'—जबकि बुत-परस्त उस बुत को खुदा की याद का एक जरिया मानता है। हमारी जबान क्या है? एक मांस का टुकड़ा, पर उसको हिला-हिलाकर तो हम खुदा की याद करते हैं। कुरान और गीता क्या हैं? स्याही रंगे कागज के टुकड़े, पर उनको पढ़-पढ़कर हम राम-रहीम को पाना चाहते हैं। कोई बुत-परस्त या नाबुत-परस्त उनको खुदा नहीं कहता, और न मानता है! खलीफा उमर ने अरबों का एक बुत और हटाया। काबे में लगे 'संगे असवद' (काले पत्थर) को चूमते वक्त वे कहा करते थे—'है तो तू एक पत्थर का ही टुकड़ा, पर मैं तुझे सिर्फ इसलिए चूमता हूं कि नबी ने तुझे बोसा दिया था (चूमा था)'—नबी ने बुतों का तवाफ किया, बुत लकड़ी बन गए और लकड़ियों में पहुंच गए। खलीफा ने पत्थर को पत्थर कहा, पर उसे पत्थरों में नहीं पहुंचा सके। नबी नबी थे, खलीफा खलीफा। मुसलमानों ने नबी की राह बंद कर दी और बीसवीं सदी ने खलीफा की। मुझे तो खलीफाओं के बाद मुस्तफा-कमाल ही मुसलमान जंचे, पर पता नहीं, उनको इस सदी के कितने मुसलमान मुसलमान मानते हैं? हां, संतों में मुसलमान हुए, हुक्मरानों में बहुत कम।

करोड़ों दुखी हैं, दुख दूर भी करना चाहते हैं; पर राह चलेंगे मन की, जमीर की नहीं! प्रकृति के नियमों को तोड़कर ही चलेंगे। भूखे मरेंगे, नंगे रहेंगे या फिर शराब पीएंगे, बेहोश रहेंगे, मदहोश बनेंगे और कपड़ों से लदकर चलेंगे! पेट को ठूंस-ठूंसकर भरेंगे, मानो वह किसी बजाज या हलवाई के गोद लिए लड़के हैं! मजाक उड़ाएंगे किसका? साइंस का, विज्ञान का, ज्ञान का, यानी अपना। साइंस आखिर इनसानी तजुरबे का निचोड़ ही तो है, उससे चिढ़ क्यों? रुपये से अगर कोई जहर मोल लेकर खा ले, तो अपने सारे रुपयों से चिढ़कर उन्हें फेंक तो न दोगे। यूरोप पागल होकर अगर साइंस से भूचाल का काम ले, तो इसमें साइंस का क्या दोष? इस तरह पागलपन होता रहा है, हो रहा है, होता रहेगा। यह पागलपन किसी समझदार को क्यों बेजार करे? जिंदगी के कानूनों को मानकर ही सुख मिलेगा। विज्ञानियों की तरह तह तक पहुंचकर ही सुखी हो सकते हो।

महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद ऐसे ही विज्ञानी थे, जैसे आर्किमीडस, न्यूटन, एडीसन इत्यादि। ये बिजली और भाप के किस्सों में पड़कर लगे दुख के कारणों की खोज करने और उन्हें खोज भी लाए। कुदरती कानूनों पर चलकर ही कुछ कर पाओगे, नहीं तो जिंदगी बेकार जाएगी।

जिंदगी की आज की समस्याएं पुराने हल से ही नहीं सुलझेंगी। पुराने और नए, दो अलग रास्ते हैं, वह कहीं नहीं

मिलते। माला के दाने सूत से मिले रहते हैं, पर वे आगे-पीछे नहीं हो सकते। हम हिम्मत और 'स्पिरिट' तो कृष्ण, महावीर, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद की अपनाएंगे पर हम हम ही रहेंगे। स्टालिन लेनिन बनने चलता, तो न लेनिन बनता और न स्टालिन। मुस्तफा-कमाल खलीफा उमर बनने की कोशिश करता तो तुर्की का यह नक्शा ही न होता, गांधी ने गीता पढ़ी, सुदर्शन चक्र नहीं संभाला। जैन उसे जैन कहने लगे, ईसाई ईसाई, मुसलमान मुसलमान, और हिंदू हिंदू। वह तो गांधी ही है। हम, हम बनें। माला में अपनी जगह के मोती बने रहो। हिम्मत के सूत्र के सहारे टिके चमकते रहो।

ठीक है, सरकार ने पुलिस तैनात कर रखी है, वह चोर को पकड़ेगी; मजिस्ट्रेट उसको दंड देगा, ज़ेलखाने में बंद करेगा। तो क्या इस नाते हम घर में आए चोर का मुकाबला करना छोड़ देते हैं? हम पुलिस की बाट नहीं जोहते, चोर को पकड़ते हैं, और अगर वह हाथापाई पर उतर आता है, तो मुक्के भी जमाते हैं। ठीक इसी तरह, जो खुदा करता है, वही होता है; जो तकदीर में लिखा है, वह भुगतना ही पड़ेगा—क्या इस नाते हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहेंगे? अगर ऐसा करते हैं तो हम कम-हिम्मत हैं। सुख न पा सकोगे। हाथ, पांव, मन, मस्तक—जो हमारे पास हैं, वह काम के लिए हैं, सिर्फ दिखाने की चीज नहीं। खुदा के सच्चे मौतकिद हजरत मुहम्मद हाथ-पर-हाथ रखकर नहीं बैठे, तीर-कमान लेकर फौजी जनरली भी की और बादशाह बनकर अदलो-इनसान भी बांटा। बाप बनकर बेटियों को पाला-पोसा, और नाना बनकर धेवतों को पुचकारा ही नहीं, उनके ऊंट बनकर उन्हें पीठ पर चढ़ाया भी। लेकिन याद रहे, जनरली, बादशाही, बापपन और नानापन—किसी को उन्होंने अपने सर पर नहीं चढ़ने दिया। सिपाही को कंधे चढ़ाया, पर जनरली को मुंह न लगने दिया; जनरली की मुंहजोर घोड़ी की हड्डियां उनके रानों के बीच में हमेशा चर-चर बोलती रहीं। गुलाम तक को सर चढ़ाया, पर बादशाही की शेखी उनके जानुओं की रगड़ से मुंह की राह फेन उगलती रही। खजूर के तिनकों का बिछौना और उनके रूखे-सूखे फलों की खुराक जब बादशाही को मिले, तो वह अकड़ भी कैसे पाए? शायद ही कोई बाप हजरत जैसा अपनी बेटी को प्यार करने वाला मिलेगा। पर बादशाही की हैसियत से वफात पाने पर भी न एक चप्पा जमीन छोड़ी और न एक कौड़ी नकदी। जो खुदा का मौतकिद और हिम्मत का पुतला है, वह अपनी औलाद के लिए खनकते ठीकरे तरके में नहीं छोड़ जाता, वह उनको दे जाता है हिम्मत का खजाना।

'जो किस्मत में लिखा है, वह होकर रहेगा', 'किया कर्म भोगना ही पड़ेगा'—यह कहा महावीर स्वामी और बुद्ध भगवान ने। पर वे कब हाथ-पर-हाथ धरकर बैठे? वे तो बैठ सकते भी नहीं थे। हजरत मुहम्मद ने बादशाही कमाई, पर उसे अपनाया नहीं। यह दोनों (महावीर, बुद्ध) उसे ओढ़े-ओढ़े आए और उतार फेंका। हिम्मत वालों को दूसरे की दी हुई चीज पसंद नहीं आती, भगवान की भी दी हुई नहीं। जिस्म मां-बाप से मिला था, छोड़ा नहीं जा सकता था, पर उसे छोड़ा जैसे ही बना रखा था, किराए के मकान की तरह; भले किराएदार की हैसियत से उसे खूब लीपा-पोता, चमकाया, पर अपनाया नहीं। ये दोनों राजकुमार राजकुमारपन का कलंक धोने के लिए कुछ दिनों भूखे-प्यासे रहे, पर कुछ ही दिनों, उसके बाद इतने काम में लगे कि आज की यह रेल, तार, हवाई जहाज की दुनिया उनके काम का हिसाब नहीं लगा पाती। राजपाट छोड़ना क्या कम हिम्मत का काम है? पर उससे भी ज्यादा हिम्मत का काम है राजपना छोड़ना, जो इन दोनों राजकुमारों ने यों ही छोड़ दिया। असल में इन्होंने छोड़ा पुराना रास्ता, और निकाली नई सड़क। इन्होंने विज्ञानियों की तरह परीक्षण किए और सचाई तक पहुंचे। उंगलियां झुलसाईं, हाथ गलाए, तब कुछ पाया। इन्होंने फटकारें सहीं और आज भी यशोधरा के उलाहने सुन रहे हैं। अपनी देह तुड़वाई, पर सिद्धांत की देह पर खरोंच तक न आने दी।

समझ लीजिए और खूब समझ लीजिए कि सिर्फ सच्चे, पक्के, पूरे ज्ञान से जीवन सुखी नहीं हो सकता। उसमें हिम्मत की पुट देनी ही होगी। बिल्ली की गर्दन में घंटी बांधने की बात हम अक्ल से सोच सकते हैं, पर बांधने की हिम्मत नहीं—तो सोचने की बात बेकार है। बेहिम्मत वाले के दानी दिमाग को ठस्स ही कहना पड़ेगा। अर्जुन के ज्ञान को हिम्मत का पुट दिया गया था। स्टालिन के ज्ञान पर हिम्मत के कई पुट लगे हुए थे। वह लोहे का नहीं था, खून, मांस, चमड़े का ही था। पर, उसका नाम लोगों ने लोहे का आदमी रख दिया था।

और भी आदमी हैं, हम भी आदमी हैं। जो कसौटी औरों के पास है, वही हमारे पास है। फिर हम अपनी कसौटी पर कसकर ठीक-बे-ठीक की पहचान क्यों नहीं करते? हमको जलेबी बनानी आती हो या न आती हो; पर हम खाने पर और अच्छा न लगने पर होशियार-से-होशियार हलवाई की कारीगरी में नुक्स निकालने के हकदार हैं। क्या करना

ठीक है, क्या बे-ठीक, समझ सकते हैं और बड़े-से-बड़े वेदपाठी की भूल पकड़ सकते हैं। दूसरों की कसौटी पर कसी बातें न अपनाएं, और अगर अपनानी ही पड़ें, तो अपनी कसौटी पर कसकर देख लें। अपनी कसौटी पर कसी बात सच्चे एत्तकाद के नाम से पुकारी जाती है, उसी का नाम सच्चा विश्वास है, वही सम्यक् दर्शन है। इस विश्वास से बड़ा बल मिलता है। सचाई हमारी ओर रहती है और हमारा बल सौ-गुना हो जाता है। दूसरों की कसौटी पर कसी बातों में हमें शक रह सकता है, और रत्ती-भर शक लाखों मन अक्ल को बेकार कर देता है, बेजान बना देता है। जीवन में यह बड़े मार्के की बात है। कर्ण के रथ को हांकने वाला शल्य था। शल्य कहते हैं शक को, और कर्ण कहते हैं कान को। शक हमेशा कान की राह दिल-दिमाग में दाखिल होता है। सुना-सुनाया धर्म शक से खाली नहीं होता। कर्ण के दिल में अपनी जीत के बारे में शल्य ने शक पैदा कर दिया था और यों उसको कमजोर बना दिया था। अर्जुन भी रूढ़िवादी और शक्की था, कमजोर था। उसको गीता सुनाकर, कृष्ण ने शक दूरकर बलवान बना दिया था। कर्ण की हिम्मत खसोटी गई, अर्जुन में हिम्मत ठूंसी गई। एक क्षण के लिए भी यदि कृष्ण (हिम्मत) अर्जुन का साथ छोड़ देते तो वह खतम हो जाता और अगर कर्ण का शल्य चुपचाप सारथी रहता तो जीत कर्ण की होती। असल में मन और मस्तक की, मंसल (एक दवा) और पुटास से, हिम्मत के धड़ाके का चमत्कार पैदा होता है, या मन और मस्तक के गरम-नरम तारों के मिलने पर हिम्मत की चिनगारी निकलती है। सुख दिखाई दे जाता है और फिर मिल तो जाता ही है।

कृष्ण, यानी अंतरात्मा या जमीर की सलाह के सिवाय सब सलाह बेकार! सलाह सलाह ही नहीं है, अगर वह हम में हिम्मत न जगा दे, हमारा शक न मिटा दे, हमारे मन और मस्तक को एक स्वर में न ला दे। विश्वास, लग्न, हिम्मत, श्रद्धा, एत्तकाद (Conviction) सबका एक ही मतलब है। एत्तकाद के बिना बाहर का युद्ध हमारे अंदर घुस बैठता है। दुश्मन से लड़ने की बजाए मन-मस्तक आपस में ही लड़ने लगते हैं। बुद्धि कुछ कहती है, मन कुछ। आत्मा के दो टुकड़े हो जाते हैं। खींचातानी में दुश्मन को मौका मिल जाता है और सुख की जगह दुख आ बैठता है।

सुखी रहना चाहते हैं तो किसी की शक न दूर कर सकने वाली नसीहत मानकर के न चलें, फिर चाहे वह बाप की हो, गुरु की हो, भगवान की हो। जब नसीहत के बाद भी शक रह गया, तो नसीहत कैसी! अगर किसी नसीहत से हमारा शक दूर हो जाए, हम में सच्चा विश्वास पैदा हो जाए, तो उसी को मानकर चल पड़ें, फिर चाहे वह बच्चे की हो, मूर्ख की हो या शैतान की।

सुखी रहना चाहते हैं तो यह खयाल दिल से निकाल फेंके कि जो कायदे चले आ रहे हैं, वे ठीक हैं; जो रिवाज चले आ रहे हैं, वे भले हैं; जो पुरानी किताबों में लिखा है, वही आज भी ठीक है; बेशक वह जमीर की, अंतरात्मा की कसौटी पर कसी चीजें हैं, पर हमारी कसौटी पर नहीं। अगर हमारी कसौटी पर ठीक उतरें तो अपना लें। फिर वह हमारी हैं, हमारी होकर रहेंगी, हमें सुख देंगी। यही राह सुख को गई है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

कहानी

'यशवंती, तुम ठीक कहती हो।'—एक गहरी सांस लेते हुए रथीन बाबू बड़े दर्द के साथ बोले—'मैं जानता हूं, प्रवाल आगे क्यों नहीं पढ़ पाया? सुमिता की शादी क्यों ऐसे घर में हुई? बड़ा बेटा केदारनाथ थोड़ी-सी बीमारी में कैसे चल बसा? हमने एक व्रत लिया था—देश-सेवा का। धरती का ऋण आखिर किसी को तो चुकाना ही था....किसी को तो शहीद होना ही था, हमारा सौभाग्य रहा कि हम ही हो गए....।'—उनका स्वर पथरा-सा आया।

उन्होंने सोचा भी न था कि यशवंती के मन में कहीं ऐसा भी टूटा कांटा अब तक अटका हुआ है। आजादी के इतने वर्ष बाद भी।

तपस्या

हिमांशु जोशी

स्वाधीनता दिवस के अवसर पर विशेष

'आखिर दिया क्या आपने हमें?'—मृत्यु से पूर्व, एक दिन रुग्ण पत्नी ने सहज आक्रोश में भरकर कहा तो वे देखते ही रह गए।

'तुम भी क्या ऐसा सोचती हो?'—उन्होंने सहमते हुए उत्तर दिया था।

'हां-हां, सोचती हूं, जरूर सोचती हूं।'—कुछ क्षण का सन्नाटा तोड़ते हुए उसने कहा—'जिंदगी-भर मेरे बच्चे एक-एक टुकड़ा रोटी के लिए तरसते रहे। मैके से मांग-मांग कर गुजारा चलाती रही। बच्चे आगे नहीं पढ़ सके, क्योंकि फीस के लिए पैसे कहां से लाती? तीज-त्यौहारों पर बाहर निकलने के लिए झींकते रहे, क्योंकि तन ढकने के लिए कभी ढंग के कपड़े नसीब नहीं हुए। मैं दूसरों के खेतों में काम करती रही, कभी उफ तक न की—क्योंकि तुम्हारी इज्जत पर बट्टा न लगे। तुम गांधीजी की 'जै-जैकार' के नारे लगाते हुए, एक नशे की जैसी हालत में, दीन-दुनिया से बेखबर घूमते रहे। कभी एक बार भी पीछे मुड़कर तुमने यह तक न देखा कि हम जीवित हैं या मर गए....भूले-भटके से कभी देहरी पर आ, कभी शिकायत से कुछ कहा, तो तुम यही समझाते रहे—'देश-सेवा का काम पुण्य का काम है। देश आजाद होगा कभी, हमारे भी दुख-दर्द दूर हो जाएंगे....।' पर मैं पूछती हूं—आजादी के बाद भी दो जून रोटी सुख से कब नसीब हुई? बच्चे बड़े होकर जुगाड़ न करते तो हम लोग कहीं भीख मांग रहे होते...।'

'यशवंती, तुम ठीक कहती हो।'—एक गहरी सांस लेते हुए रथीन बाबू बड़े दर्द के साथ बोले—'मैं जानता हूं, प्रवाल आगे क्यों नहीं पढ़ पाया? सुमिता की शादी क्यों ऐसे घर में हुई? बड़ा बेटा केदारनाथ थोड़ी-सी बीमारी में कैसे चल बसा? हमने एक व्रत लिया था—देश-सेवा का। धरती का ऋण आखिर किसी को तो चुकाना ही था....किसी को तो शहीद होना ही था, हमारा सौभाग्य रहा कि हम ही हो गए....।'—उनका स्वर पथरा-सा आया।

उन्होंने सोचा भी न था कि यशवंती के मन में कहीं ऐसा भी टूटा कांटा अब तक अटका हुआ है। आजादी के इतने वर्ष बाद भी।

'यशवंती, तूने कभी उनके बारे में नहीं सोचा, जो गए और फिर कभी लौटकर नहीं आए? अपने रमाशंकर फरार हो गए थे, याद है? ट्रेन से कटकर मर गए, परंतु फिरंगियों के हाथ नहीं आए। दामो बहन सचमुच पागल हो गई थी। अपने ही कपड़ों में स्वयं आग लगाकर आत्मदाह कर बैठी थी। निजात मियां का सीना गोरों ने उनके बच्चों के सामने छलनी कर दिया, राबिया भाभी ने उफ तक न की। खून का घूंट पीकर भी इंकलाब के नारे लगाती रहीं,....तुम्हारी खुशकिस्मती थी कि कालापानी से भी मैं लौट आया, पर उनका सोचो, जो गए और वहीं के वहीं रह गए....उनके बच्चों का क्या हुआ होगा? तुम अपना दुख देखती हो, ठीक है, पर औरों का दुख, किस पहाड़ से कम है!'

यशवंती चुप हो गई थी। कुछ ही दिनों बाद इस संसार से भी चल बसी थी, किंतु उनका हृदय बुरादे की आग की तरह तब से निरंतर सुलगता रहा। जिन प्रश्नों को छोटा समझकर उन्होंने बिसरा दिया था, लौटकर अब, मुड़कर देखते तो सांप की तरह फन फैलाए खड़े थे।

प्रवाल आगे पढ़ पाता तो यों जिंदगी-भर क्लर्की न करता....सुमिता का बुझा-बुझा चेहरा.... ऋचा....केशु....कांता....उनके सामने प्रश्नचिह्न की तरह खड़े हो जाते।

'हमारा रथीन कालापानी से अब क्या लौटेगा?'—पिता इसी सोच में चल बसे थे। अंतिम बार पुत्र को देखने की लालसा, लालसा ही बनी रह गई थी।

'रथीन के बच्चों का क्या होगा? कौन संभालेगा उन्हें? कौन उनकी देख-रेख करेगा?'—बूढ़ी मां ने रो-रोकर अपनी आंखें अंधी कर डाली थीं।

फिरंगियों ने जमीन-जायदाद नीलाम करवा दी थी। अनाथ परिवार, दूसरों के ओसारे पर सिर छिपाने लगा था....।

कालापानी की नारकीय यातनाओं से मुक्त होकर, एक दिन वापस आए, तो यहां भी वैसी ही वीरानी थी....और एक दिन आजादी भी मिल गई, तब भी....।

रथीन बाबू की बूढ़ी आंखें, कहीं शून्य पर अटक जातीं।

'रथीन बाबू, अब अपना देश स्वतंत्र हो गया, कुछ लायसेंस-वायसेंस ले लीजिए।'—एक ऊंची-सी आवाज एक दिन कानों से टकराई तो वे सहसा बौखला-से पड़े थे। खादी के धवल वस्त्रों में लिपटे ये वे ही महानुभाव थे, जो बरेली जेल में उनके साथ-साथ रामबांस कूटते थे, मूंज की रस्सियां बंटते थे....। देश-सेवा के बदले में भी कुछ लिया जा सकता है—यह गणित उनकी सहज बुद्धि से परे था।

'ठीक कहते हो दिवाकर भाई, ठीक कहते हो....!'—उन्होंने दुखते दिल से कहा था—'मां की सेवा के बदले में भी कुछ लिया जा सकता है? ऐसा सोचना भी मेरे लिए पाप है। वारींद्र बाबू कहते थे—मातृभूमि की सेवा में सौ बार जन्म लेकर, सौ बार प्राण न्यौछावर करके भी मां के त्याग का बदला नहीं चुकाया जा सकता। मैंने तो आधा ही जीवन दिया है, दिवाकर भाई!'

दिवाकर भाई 'हो-हो-हो' कर देर तक हंसते रहे थे—'बच्चों को हम कहीं अच्छी जगह लगवा देते हैं, बुढ़ापा आराम से कट जाएगा। अधिक आदर्शवादी न बनिए रथीन बाबू, कहीं ऐसा न हो कि फिर पछताना पड़े!'

अब रथीन बाबू की हंसने की बारी थी—'जिसने आमरण अनशन किया था—देवलाली कैंप में, सच नहीं लग रहा है कि तुम वही दिवाकरदास हो! जिसने अपने रक्त से बापू को पत्र लिखा था उनके जन्मदिन पर! जिसके नाम से ही गोरे कांपते थे....।'—रथीन बाबू कहते-कहते चुप हो गए थे।

स्वाधीनता-सेनानियों को पेंशन मिलने लगी, परंतु रथीन बाबू ने उस ओर देखा तक नहीं।

एक विशेष समारोह में उन्हें ताम्रपत्र दिया जाना था, किंतु वे वहां पहुंचे ही नहीं।

'मैंने भी देश की सेवा की थी, मैंने भी स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया था, इसका प्रमाण-पत्र लेकर क्या करूंगा? मां-बाप की सेवा के बदले में भी क्या ऐसा ही ताम्रपत्र मिलेगा? भगवान की आराधना तथा मानव-सेवा के लिए भी....?'—मन-ही-मन पता नहीं, वे क्या-क्या सोचते रहे! उनका यह अतिआदर्शवाद स्वयं उनके बच्चों को रास नहीं आ पा रहा है, वे जानते थे, परंतु करते क्या?

मन ने जो न चाहा, वह उन्होंने जीवन-भर नहीं किया तो भला अब क्या करते—जीवन की इस संध्या में!

उनके कर्मठ जीवन के अस्सी साल पूरे होने की खुशी में, उन्हीं के महल्ले में एक समारोह किया गया। बड़े-बड़े नेता आए, बड़े-बड़े भाषण हुए, किंतु वे तटस्थ दर्शक की तरह चुपचाप देखते रहे।

अंत में उन्हें कुछ बोलने के लिए कहा गया तो पहले कुछ बोल न पाए। फिर रुंधे स्वर-कंठ से बोले—'काकोरी के बाद कितने देशभक्त अंग्रेजों की गोली का निशाना बने, शहीद हुए—क्या आपने कभी सोचा....कालापानी की जेल में हम लोगों ने विद्रोह किया था....तेरह दिसंबर की उस काली रात में सत्रह देशभक्तों को हमारे सामने कत्ल कर दिया गया था। उनकी खून से सनी, छटपटाती लाशों को देखकर मैं सचमुच कई दिन तक पागल हो गया था। अब भी कभी-कभी रात के अंधियारे में वे लाशें मेरी आंखों के आगे तैरने लगती हैं, तो पागलपन का एक दौर-सा शुरू हो जाता है। वे सारी लाशें चीखने-सी लगती हैं—वह हिंदुस्तान कहां है, जिसके लिए हमने कुर्बानियां दी थीं....?'

वे रंग-बिरंगी मालाएं, उन्होंने फिर छुई तक नहीं। गुमसुम-से कुछ देर बैठे रहे, फिर मंच से नीचे उतरकर, अपने कमरे में बंद हो गए। फिर कई दिन तक उन्होंने कभी किसी से कोई बात नहीं की।

कभी-कभी अकेले ही बाजार की तरफ घूमने निकल जाते। लौटने पर कहते—'आज चंद्रशेखर आजाद को मैंने राशन की दुकान पर कतार में खड़ा देखा था, भीड़ बहुत थी, इसलिए बातचीत न हो पाई।'

बिस्तर से, सुबह उठते ही, कभी बहके-बहके-से कहते—'कल रात सरदार भगतसिंह से जमकर बातें हुईं। कहते थे—'अंग्रेजों से फिर लड़ूंगा'—मैं कितना समझाता रहा, पर वे मानें तब न! लड़ने-झगड़ने पर उतारू हो गए....।' वे हंसने लगते—अपने पोपले मुंह से—ही, ही, ही!

खाते-खाते कभी हाथ का कौर रोक लेते—'यशवंती ठीक कहती थी, आखिर मैंने क्या दिया उसे? जिंदगी-भर संघर्ष करती रही बेचारी....मरते समय केवल हड्डियों की माला-सी रह गई थी....कभी देखी थी प्रवाल, तुमने उसकी सूखी कलाइयां!'

थाली परे छोड़कर वे उठ जाते और हाथ धोकर फिर अपने अंधेरे कमरे में छिप जाते।

बच्चों से भी अब कम बातें करते। समाचार-पत्र खोलकर सामने रख लेते और घंटों तक अपलक उसकी ओर ताकते रहते। सारी रात अंधेरे में बैठे-बैठे बिता देते...घर के लोगों को अब उनसे डर लगने लगा था। बच्चे उनके कमरे में जाने से कतराते थे।

एक दिन सुबह-सुबह दीपू अखबार का पन्ना फड़फड़ाता हुआ, दौड़ता-दौड़ता उनके पास आया। बड़े उत्साह से बोला—'देखा दादाजी, इसमें छपा है—सरकार उन स्वाधीनता-सेनानियों को मुफ्त में कालापानी की सैर करने भेज रही है, जो कभी सजा झेलने कालापानी गए थे। आप तो इत्ते बरस रहे वहां! घूम आइए न! मैं भी आपके साथ चलूंगा, आपका नौकर बनकर...।'

वे हंसने लगे, पर प्रत्युत्तर में उनसे कुछ कहा नहीं गया। वे विस्फारित नेत्रों से केवल समाचार-पत्र की ओर देखते रहे।

उस सारे दिन सागर की तूफानी लहरें चट्टानों से टकरा-टकरा कर टूटती रहीं। टुकड़ा-टुकड़ा होकर जल की अनगिनत बूंदें छितराती रहीं। रात को भी पलकें उसी तरह खुली रहीं। एक क्षण के लिए भी वे सो न पाए। सेल्युलर जेल की ऊंची-ऊंची दीवारें....वे छोटी-छोटी अंधेरी काल-कोठरियां....बाबा भानसिंह की चीखें....कोल्हू में सावरकर का सारा दिन बैल की तरह जुता रहना....उस किशोर क्रांतिकारी के शव का सागर की सतह पर तैरना....वह....वह...।

क्या था वह सब?

पर आज! चीथड़ों से बना एक फटा हुआ मानचित्र! कटा हुआ अधूरा सपना....।

भीख मांगते बच्चे! दंगों की आग में झुलसे घर। सड़कों पर पड़े शव! चारों ओर कचरे के ढेर! पशु और आदमी एक ही पोखर से जल पी रहे हैं!

कहां विलीन हो गए सपने!

सुजला! सुफला!

कहां रह गई खोट!

हां,

क्या पता हमारी तपश्चर्या में ही कहीं कमी रह गई! शायद इसीलिए यात्रा अधूरी रह गई और अधूरी रह गई सारी दास्तान!

शेष पृष्ठ 51 पर

कैलाश वाजपेयी की कविताएं

एक असमाप्त अंत

कांपते आकाश की
अंधेरी दूरियां तैरकर
ताजे टूटे पंख-सी
मेरी आवाज
गिर आई है।

जीवित अधजले बच्चे-सी
मेरी सूजी हुई सांसें
चलते दुखती हैं।
धूप की बुढ़िया
मुझे टांग कर द्वार-द्वार रोई
और अंत में
भूख की तरह मर गई।

आवारा अंधेरे ने मेरे साथ
आत्महत्या करने से
इनकार कर दिया।
एक लंबे ढलाव पर
नीचे-नीचे-नीचे
और नीचे आते जल की तरह
मैं त्रस्त और गंदला
पड़ गया हूं।

ओस-सी पवित्र मेरी आत्मा
वर्षों जागी आंखों की तरह
अब केवल थकान से भद्दी और कड़ुवी
आकृति-भर बची है
मैं जो वर्तमान हूं
भविष्यहीन अनवरत वर्तमान
अनिश्चय के बहरे क्षणों में
नींव भरकर न उठाई गई
दीवार की तरह
ईश्वरहीन हो गया हूं
क्योंकि
कांपते आकाश की
अंधेरी दूरियां तैरकर
ताजे टूटे पंख-सी
मेरी आवाज
अभी-अभी
गिर आई है।

ध्यान

जब कुछ भी करके भी कुछ नहीं मिलना
राख होना है
जब कुछ न करके भी कुछ नहीं मिलना
राख होना है
तब फिर ध्यान भी क्यों करना?
भिक्खु ने सवाल किया
जो काम तुमसे
पहले भी हो रहे थे
जो काम होते चले जाएंगे
तुम्हारे न होने के बावजूद
वे काम कम-से-कम तुम्हारे नहीं हो सकते
और
जो काम तुम करना नहीं चाहते
याकि
जिन्हें तुमने करना नहीं चाहा था
लेकिन तुम करते हो
क्योंकि वे तुमसे करवाए जाते हैं
ऐसे सब काम तो
और भी तुम्हारे, नहीं थे, नहीं हैं, न हो सकते हैं
लेकिन वह काम जो
सिर्फ न करने से आता है
और जिसे करना नहीं आता करने की कोशिश करने
के कारण लोगों को
वही एक काम है जिसे ध्यान कहते हैं
ध्यान का मतलब है भिक्खुओ
शीशे में शीशे की, कोराई देखना
अपनी परछाईं, नहीं देखना

❖❖

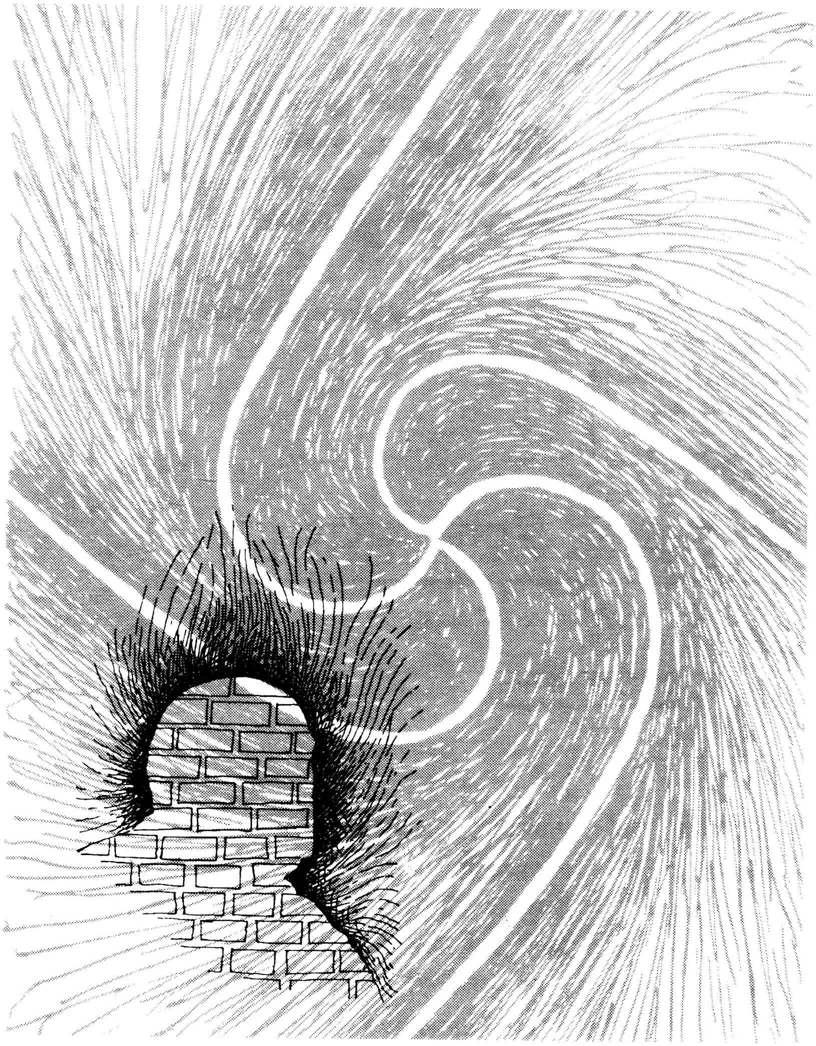

शीलन

जीवन में, और जीवन के प्रति ईमानदार होना बेहद जरूरी है। दरअसल यही दुनिया का सबसे महत्त्वपूर्ण काम है। अगर आप में सचाई है, तो दूसरी चीजें खुद-ब-खुद जुड़ती जाती हैं। मसलन अभिनय में ईमानदारी का मूल्य सब पहचानते हैं। हम अपने राजनेताओं से (मानव किस कदर आशावादी होता है), न्यायाधीशों से, शिक्षकों और चिकित्सकों से ईमानदारी की अपेक्षा रखते हैं। पर, हम बच्चों को इस तरह शिक्षित करते हैं कि वे ईमानदार होने की हिम्मत तक नहीं कर सकें।

—ए.एस. नील

धर्म किसी जाति या कुल की बपौती नहीं है। उसे किसी मजहब, वर्ग, जाति, प्रांत अथवा राष्ट्र की परिधि में नहीं बांधा जा सकता है। धर्म तो जन-जन के बीच निर्बंध हो रहने वाली अवधारणा है। जैसे वर्षा, हवा, सूर्य का प्रकाश, वृक्ष की छाया पर सबका अधिकार है, उसी तरह धर्म में भी गरीब-अमीर की भेदरेखा नहीं है। धर्म का द्वार सबके लिए खुला रहता है। आवश्यकता है कि व्यक्ति धर्म के रहस्य को समझे।

धर्म शरीरां नीपजे जो कुछ कीन्हो जाय

साध्वी जयमाला

धर्म एक ऐसा शब्द है जिसके साथ सामान्यतः व्यक्ति का जीवन जुड़ा होता है। प्रत्येक प्रवृत्ति व्यक्ति अपना कर्तव्य समझ करता है और इसीलिए इसका जुड़ाव जीवन से माना गया है। भगवान महावीर ने दो प्रकार के धर्म बताए हैं, एक लौकिक व दूसरा लोकोत्तर।

लौकिक धर्म में जीवन की सारी प्रवृत्तियां तथा कुल, समाज तथा राष्ट्र आदि की सुरक्षा से लेकर उसके समग्र विकास के जो भी काम होते हैं—वे सभी लौकिक धर्म की श्रेणी में आते हैं। एक गृहस्थ के लिए यह अनिवार्य भी हो जाता है कि वह अपने निर्वाह के लिए अपेक्षित कर्म करे। पर, इस लौकिक धर्म अथवा कर्म या कर्तव्य के साथ व्यक्ति को नैतिक रहना जरूरी है। धर्म ही एक मात्र आधार है जो व्यक्ति को लौकिक कर्म करते हुए नैतिक आचरण की ओर अग्रसर करता है।

वास्तव में धर्म का न तो कोई नाम होता है और न कोई रूप। व्यक्ति के आचरण, व्यवहार या वृत्ति के आधार पर ही उसे धार्मिक या अधार्मिक होने का प्रमाण-पत्र दिया जा सकता है। धार्मिक व्यक्ति का जीवन एक आदर्श जीवन होता है। प्रत्येक कार्य में सादगी, संयम, वाणी की मधुरता टपकती है। वह किसी की आत्मा को ठेस नहीं पहुंचाता।

इसी तरह धर्म का आचरण करने वाले व्यक्ति के मन में स्वर्ग की आकांक्षा या नरक का भय भी नहीं सताता। एक धार्मिक व्यक्ति का दृष्टिकोण अपने-आप को ही देखने का रहता है। समता, सहिष्णुता, संतोष, संतुलन, सामंजस्य आदि गुणों का विकास हो, ऐसा सद्‌चिंतन उसमें निरंतर चलता रहता है। अगर इनका अभाव हो तो उसका धार्मिक कहलाना कठिन होता है।

कोई धार्मिक व्यक्ति अगर आंतरिक गहराई में चला जाए तो उसें धीरे-धीरे अपने स्वरूप का भी भान होता चला जाता है। इसका फलितार्थ यह है कि उसे काम, क्रोध, लोभ और मोह नहीं सताते। किसी भी धार्मिक व्यक्ति में अगर तनाव है तो वह तनाव शांति में बदल जाता है। सुख-दुख आनंद में, निराशा प्रसन्नता में, घृणा प्रेम में तब्दील हो जाती है। इसी तरह हिंसा करुणा में, काम-वासनाएं संयम में, झूठ सत्य में और इच्छाएं संतुष्टि में बदल जाती हैं। चोरी का भाव अस्तेय में, वाणी की कटुता कोमलता में, आहार-मिताहार में परिणत हो जाते हैं। प्राणीमात्र के साथ

करुणा का स्रोत बहता चला जाता है। न कोई भय, न कोई शोक होता है और न रोग सताता है। अवगुणों और मलिनताओं का स्वतः ही नाश होने लग जाता है। धार्मिक व्यक्ति के जीवन में किसी प्रकार का संताप नहीं होता। बुढ़ापा, बीमारी या आपदा का सामना नहीं करना पड़ता हो—यह बात नहीं है। हां! बुढ़ापा आता है, पर जीवन में समता के कारण वह उसे सताता नहीं है। बीमारी भी आती है, पर उसे व्यथित नहीं कर पाती। आपदाएं आती हैं, पर धार्मिक व्यक्ति धैर्य से उनको सहन करता चला जाता है। सुख हो या दुख, वह धैर्य नहीं छोड़ता। धर्म का सार यही है। दुख को सुख में बदलने की क्षमता से जो परिचित हो जाता है, मानना चाहिए कि वह धर्म के मर्म को आत्मसात कर चुका होता है। अतः सुख और शांतिमय जीवन जीने के लिए धार्मिक भावना सुरक्षित रखना आवश्यक है।

धर्म किसी जाति या कुल की बपौती नहीं है। उसे किसी मजहब, वर्ग, जाति, प्रांत अथवा राष्ट्र की परिधि में नहीं बांधा जा सकता है। धर्म तो जन-जन के बीच निर्बंध हो रहने वाली अवधारणा है। जैसे वर्षा, हवा, सूर्य का प्रकाश, वृक्ष की छाया पर सबका अधिकार है, उसी तरह धर्म में भी गरीब-अमीर की भेदरेखा नहीं है। धर्म का द्वार सबके लिए खुला रहता है। आवश्यकता है कि व्यक्ति धर्म के रहस्य को समझे। क्योंकि आज का व्यक्ति परिवार में, धन-दौलत में, जमीन-जायदाद में, रिश्ते-नातों में ही सीमित हो, उन्हीं में सर्वाधिक रूप से जुड़ता चला जा रहा है। इन्हीं समस्याओं को अहर्निश सुलझाने में मशगूल रहता है। धर्म को जानने व समझने का समय ही उसके पास नहीं है। धर्मगुरुओं के पास आने-जाने का भी समय नहीं है और न स्वयं की अभिरुचि ही है। फिर कैसे समझे धर्म के रहस्यों को? धर्म बाजार में मिलने वाली कोई वस्तु नहीं है, जो पैसों से खरीदी जा सके। कहा भी है—

धर्म न बाड़ी नीपजे, धर्म न हाट बिकाय।
धर्म शरीरां नीपजे, जो कछु कीन्हो जाय।।

धर्म का आचरण मनुष्य की धार्मिक वृत्ति से ही होता है, संयम से होता है। व्यक्ति की विचारधारा ज्यों-ज्यों पवित्र होती जाएगी, उसका जीवन उतना ही उज्ज्वल और स्वच्छ बनता जाएगा।

आत्म-दर्शन की ओर मुड़ने से बाह्य आकर्षण स्वतः छूट जाता है। जन्म-मरण की परंपरा को धर्म ही उच्छिन्न करता है। धार्मिक वृत्ति को सुरक्षित रखने वाला व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में कभी भी भयभीत नहीं होता, दुखी नहीं होता। इसीलिए सुभाषित में कहा है—**धर्मो रक्षति रक्षितः**—मनुष्य की धार्मिक भावना ही उसकी सुरक्षा करती है। सुरक्षा-कवच बनकर धर्म व्यक्ति की सुरक्षा करता है।

धर्म प्रदर्शन में नहीं है। धर्म का चोगा पहनकर, स्वयं को धर्म का ठेकेदार बताकर जनता को गुमराह करने वाले बहुत मिलते हैं, पर उससे धर्म की आधार-शिला सुदृढ़ नहीं हो सकती।

बहुत-से भावुक व्यक्ति धर्म के नाम पर शीघ्रता से ढोंग और पाखंड के चंगुल में फंस जाते हैं। आए दिन अखबारों में हम ऐसी घटनाएं पढ़ते हैं। अतः यह जरूरी है कि व्यक्ति सर्वप्रथम धर्म के मूल तत्त्व को समझे। फिर वह गुमराह नहीं होगा। सबके साथ सामंजस्य स्थापित हो, धर्म ऐसा रास्ता दिखाता है। अगर कोई सहिष्णु नहीं है, तो वह धार्मिक कैसे हो सकता है? वह अहिंसक भी कैसे हो सकता है? जो अपने ही परिवार के साथ सामंजस्य बिठाना नहीं जानता, सबके साथ जिसका मृदु व्यवहार नहीं है, जिसे बात-बात में क्रोध आता हो और जो अहंकार से ग्रस्त हो, सबके साथ जो मनमुटाव रखता हो, जो लड़ाई-झगड़े में ही लिप्त रहता हो—भला वह धार्मिक कैसे हो सकता है? दूसरी ओर जो सामायिक-संवर, व्रत-उपवास, साधु-संतों की उपासना और धार्मिक चर्या में तो अग्रणी स्थान रखता है, मगर संतोष नाम की चीज ही पास में नहीं है—वह भी धार्मिक कैसे हो सकता है? थोड़ी-थोड़ी देर में या बात-बात में जो गलत शब्दों का प्रयोग करता हो, वह व्यक्ति भी धर्मात्मा की श्रेणी नहीं पा सकता।

ऐसे व्यक्तियों को धार्मिकों की श्रेणी में देखकर आज की युवा-पीढ़ी को धर्म के प्रति कोई आकर्षण दिखाई नहीं देता। आज की युवा-पीढ़ी कह भी देती है कि धर्म करने का क्या यही सार है? सामायिक में समता भाव रखने का विधान है। इसी तरह अन्य धार्मिक क्रियाएं भी व्यक्ति को आत्माभिमुख बनाती हैं। धार्मिक व्यक्ति के जीवन में अगर बदलाव नहीं आया तो उसे धर्म का पाखंड ही कहा जा सकता है।

धार्मिक व्यक्ति के सामने प्रतिकूल और अनुकूल—दोनों स्थितियां रहती हैं। दोनों ही स्थितियों में जो समभाव रखता है, वही अपनी मंजिल तय कर पाता है। सच्चा धार्मिक वही कहलाता है। सच्चा धार्मिक व्यक्ति ही पारस्परिक सौहार्द और शांत सहवास का सुदृढ़ आधार बना सकता है।

धार्मिक व्यक्ति ही जाग्रत जीवन जी सकता है। अपने जीवन को पापाचरण से बचाता हुआ चलता रह सकता है। शांतिपूर्ण जीवन तभी संभव हो सकता है।

इसी संदर्भ में एक प्रसंग का उल्लेख समीचीन होगा—

दो भाई थे। वे एक ज्योतिषी के पास पहुंचे और अपना भविष्य बताने के लिए कहा : पंडितजी! बताइए, आप तो अनुभवी हैं, प्रज्ञावान हैं, हमारा जीवन आगे कैसे बीतेगा? ज्योतिषी ने दोनों की भाग्यरेखाएं गहराई से पढ़ीं-समझीं। उन्हें देखकर जो छोटा था, उसको कहा—शीघ्र ही तुम किसी राज्य के अधिकारी बनोगे। बड़े से कहा—देखो, तुम को संभल कर चलना है। तेरा भविष्य धुंधला नजर आ रहा है, हो सकता है कोई विपत्ति आने वाली हो। अतः सावधान होकर रहना। घबराना नहीं।

अपना भविष्य सुनकर छोटा भाई बड़ा खुश हो रहा था, पर बड़ा भाई उदास-सा, निराश-हताश हो गया। दोनों भाई घर आए। बड़े भाई ने सोचा, भविष्य में विपदा आने वाली है। क्यों न मैं जागरूकतापूर्वक जीवन जीऊं। उसने जीवन में बदलाव लाना शुरू किया और अच्छा जीवन जीने की तालिका बनाकर उसी तरह से अपना जीवन जीने लगा। इधर छोटे भाई ने सोचा कि चिंता की कोई बात नहीं, उसे तो राज्याधिकार मिलने वाला है। वह कई तरह के व्यसनों और बुराइयों से घिर गया।

इधर नगरी में राजा का इकलौता लड़का अचानक अस्वस्थ होकर गुजर गया। राजा के दूसरी संतान नहीं थी। राजघराने के रीति-रिवाज और उसकी की परंपरा निभाते हुए एक हथिनी सजाकर घुमाई गई। परंपरा थी कि वह हथिनी जिसके भी गले में फूल-माला डालेगी, बस, वही भविष्य में राजा बन जाएगा। जात-पांत का भेद-भाव नहीं था। हथिनी घूमती हुई बगीचे में पहुंची और ध्यानमग्न बैठे बड़े भाई के गले में माला पहना दी। बड़ा भाई राजा हो गया। जैसे ही बड़ा भाई राजा बना कि छोटा भाई उदास होकर ज्योतिषाचार्य को पूछने गया। ज्योतिषीजी से कहा—आपका ज्योतिष का ज्ञान अधूरा है। बात उलटी हो गई, राजा बड़ा भाई बन गया। मैं रह गया।

ज्योतिषी ने कहा—भाई, मैंने तो उस समय को देखा और तुम्हारा प्रश्न देखा। उसके अनुसार जो समझा, वह बता दिया। मगर, मुझे एक बात बताओ—मेरे बताने के बाद तुम दोनों ने क्या-क्या कार्य किए? दोनों की राम-कहानी उसने सुना दी। यह सब सुनकर ज्योतिषी ने कहा—भाई, मैं क्या करूं? तुमने अपनी जीवनशैली ही बदल डाली। बुरे आचरण के कारण तुम्हारा सारा जीवन बदल गया। इसी वजह से यह परिवर्तन हो गया। कुदरत के घर देर है, पर अंधेर नहीं। इसमें मेरा क्या दोष है? अपने भाग्य का नियंता व्यक्ति स्वयं ही है।

जिस दूसरे भाई पर विपत्ति आने वाली थी, उसने अपने जीवन की धारा मोड़ ली। सद्-आचरण में जीवन को ढाला तो दिशा बदल गई। सारे बुरे आचरण छोड़कर वह सन्मार्ग की ओर बढ़ता गया। तब विपदा ने भी अपना मुंह मोड़ लिया और पुण्योदय से राजसिंहासन पर आरूढ़ हो गया। धर्म की ओर मुड़ने से सद्-संस्कार जाग्रत होते गए, वृत्तियों का परिष्कार होता गया। इस तरह सारा जीवन-क्रम ही बदल गया।

अस्तु, धर्म वर्तमान को स्वस्थ बनाने वाली प्रक्रिया है। भविष्य तो अपने-आप ही उससे सुधर जाएगा। जिसके व्यवहार में धर्म की पुट हो, जिसका चिंतन धर्म से ओत-प्रोत हो, उसका जीवन धर्म की दिव्य शक्ति द्वारा सदा-सदा के लिए सुरक्षित रह सकता है। अंततः शक्तिमान बन जाता है। ❖

तपस्या पृष्ठ 45 का शेष

एक दिन सुबह-सुबह देखा बच्चों ने कि बाबा पोटली बांध रहे हैं।

'कहां जा रहे हैं, बाबा?'—ऋचा ने डरते-डरते पूछा।

'तीर्थयात्रा के लिए।'

'बनारस-काशी?'

'नहीं-नहीं, कालापानी।'

'....कालापानी?'

'हां, बेटे हां!'—सामान समेटते-समेटते वे कहते गए, जैसे स्वयं को सुना रहे हों—'पहली बार की तपस्या, लगता है, अधूरी रह गई रे....कौन जाने, इस बार शायद पूरी हो जाए...!'

उठते-उठते वे गिर पड़े। बच्चे उन्हें संभालते, उससे पहले ही उनकी पुतलियों का रंग सफेद पड़ गया था। वे फिर हिले नहीं, डुले नहीं, बस, जैसे थे वैसे ही पड़े रहे। ❖

आत्मचिंतन के दर्पण में हम यह देखें कि जो गड्ढे हम दूसरों के लिए खोदते हैं, एक दिन वे ही हमारी कब्र बन जाते हैं। इसलिए यह विशुद्ध भावधारा—'सर्वे भवन्तु सुखिनः'—हममें सदा प्रतिबिंबित रहे। जो व्यापारी या व्यवसायी इस चिंतन की त्रिपथगा में अभिष्नात होते हैं, उनके मन में कोई वितृष्णा या लिप्सा घुसपैठ नहीं करती।

सुख, शांति और आत्मसंतुष्टि—रास्ता क्या हो?

साध्वी शुभप्रभा

विश्व-व्यापारीकरण, प्रबंधन, कंप्यूटर और सूचना अर्थ-तंत्र ने औद्योगिक जगत में एक हलचल मचा दी है। इन चारों ने पूरे संसार को स्पंदित कर दिया और हर उद्यमी को प्रतिस्पर्धा के आंगन में खड़ा कर चुनौती और अवसर को उपलब्ध करने के लिए उकसा दिया। चिंतन के ज्वार को इनने इतना अधिक उभार दिया कि हम जैसे हैं, अब वैसे नहीं रहना चाहते, अपितु अविकसित से विकासशील और विकासशील से विकसित की श्रेणी में परिगणित होकर एक मिसाल कायम करना चाहते हैं। अपनी चाह को राह देने के लिए इस विचार ने 'उद्योग प्रधान परिवर्तन' को आधार बनाया और विदेशी निवेश तथा स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था को आमंत्रण देने की घोषणा कर दी। अर्थनीति के तीन आधार-सूत्र भी इसी विचार के चलते सामने आए—

1. व्यक्तिगत पसंद की उपलब्धता।
2. व्यक्तिगत संपदा के अधिकारों की रक्षा।
3. बदलाव की स्वतंत्रता।

प्रश्न होगा कि स्वतंत्र अर्थ-व्यवस्था बनाम वैश्वीकरण क्या है? इस संदर्भ में अर्थशास्त्रियों की परिभाषा है—Globalization means sourcing of the capital from where it is cheapest producing where it is most cost effective and selling about national boundries—अर्थात् जहां पूंजी का स्रोत सस्ता हो और उत्पादन सस्ता हो, कीमत अधिक प्रभावी हो और राष्ट्रीय सीमा से बाहर विपणन हो।

इस माध्यम से पूरी दुनिया एक बाजार का स्वरूप ले लेगी। फिर कौनसे देश में उधार सस्ता मिलता है, कौनसे देश में श्रम की लागत न्यूनतम है और कौनसे देश में निर्मित उत्पादन की बिक्री से अच्छी कीमत मिल सकती है आदि को दृष्टिगत रखते हुए उद्यमी निर्णय लेंगे और उन पर किसी तरह की पाबंदी नहीं होगी। किंतु, इस 'ग्लोबल' अर्थ-व्यवस्था, उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण की नीतियों से व्यावसायिकों के सामने अनेक चुनौतियां मोर्चा संभाल लेंगी—ऐसा माना जा रहा है। यथा धन के असंतुलन की चुनौती, अनिश्चितता में जीने की चुनौती, वित्तीय ढांचे को सुदृढ़ बनाने की चुनौती, न्याय-प्रणाली को समयपरक बनाने की चुनौती। मीडिया के लिए भी चुनौतीपूर्ण समय आता दिखाई दे रहा है। इसी तरह शिक्षा-व्यवस्था में बदलाव की चुनौती, व्यापारिक संगठनों को सशक्त बनाने की चुनौती, संपदा के नए नियमों को समझने की चुनौती

और सफल अभिभावक बनने की चुनौती भी आती प्रतीत हो रही है।

माना जा रहा है कि संपत्ति, सोना, शेयर बाजार, विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, मीडिया, सामाजिक बदलाव, थोक व खुदरा व्यापार, व्यापारिक संगठन, पेशेवर प्रबंधन, लेखा-प्रणाली, विज्ञापन, मार्केटिंग, बीमा, ज्योतिष एवं वास्तु, आयात-निर्यात, ऑटोमोबाइल, पर्यटन, मनोरंजन, स्वास्थ्य, अपराध, संचार-माध्यम, शिक्षा, बैंकिंग व फाइनेंस, प्रशासन तंत्र, राजनीति, फैशन, रोजगारों की स्थिति आदि स्वतंत्र अर्थव्यवस्था से अत्यधिक प्रभावित होंगे। इससे समग्र आर्थिक ढांचा डगमगाएगा।

वर्तमान का यथार्थ यह है कि आम उद्योगपति, व्यापारी, व्यवसायी, किसान, मजदूर, कर्मचारी—सभी उदारीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों से आहत हैं। क्योंकि इससे व्यक्ति अपनी कार्यक्षमता, विचारों और इच्छाशक्ति को कई कारणों से आवश्यकतानुसार नहीं बढ़ा पा रहे हैं। फलतः प्रतिभा और दक्षता सिकुड़ रही हैं और उनको पनपने का मौका ही नहीं मिल रहा है। ऐसी स्थिति में तन और मन, विचारों और कार्यों एवं परिस्थिति और मनःस्थिति के बीच द्वंद्व या संघर्ष का होना स्वाभाविक है। अतः देखना जरूरी है कि अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण—'अपनी आकांक्षाओं को बढ़ाओ'—के स्थान पर भगवान महावीर का यह सूक्त—'आकांक्षाओं-लालसाओं का सीमाकरण करो'—ही त्राणदाई हो सकता है। क्या महावीर का यह सूक्त सुरक्षित शरणगाह बन सकता है?

भारतीय परंपरा में चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की चर्चा सर्वत्र मिलती है। यह कहना असंगत नहीं होगा कि वर्तमान परिवेश में अर्थ और काम का बोलबाला है। धर्म और मोक्ष के पथिक भी अर्थ का अवलंब लिए बिना एक कदम भी आगे बढ़ना नहीं चाहते। यह अलग बात है कि उससे उनकी मनोकामना फलित नहीं होती। संपूर्ण ढांचा अर्थ पर केंद्रित है और आर्थिक अशुचिता की जड़ है इच्छाओं का विस्तार। पदार्थ के उन्मुक्त भोग और असीम संग्रह की मनोवृत्ति ने साम्राज्यवाद की नींव डाली।

साम्राज्य-लिप्सा के दो चेहरे सामने आए हैं—क्षेत्र-विस्तार और व्यापार-विस्तार। प्राचीनकाल में क्षेत्रीय उपनिवेशवाद हावी था और अब उसका स्थान व्यावसायिक उपनिवेशवाद ने ले लिया है। 'ईस्ट इंडिया कंपनी' का भारत-आगमन इसी उद्देश्य से अभिप्रेरित था, पर धीरे-धीरे आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने की उसकी रणनीति ने आगे चलकर अंग्रेजी शासन के लिए भी द्वार खोल दिए।

इन सभी समस्याओं से निजात पाने के लिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं कि हर व्यक्ति अपनी हर प्रवृत्ति का मूल्यांकन करे और विचार करे कि इससे—

- व्यक्ति को क्या लाभ मिल रहा है?
- समाज को क्या लाभ मिल रहा है?
- वर्तमान की समस्या का हल हो रहा है या नहीं?

हम भगवान महावीर के इन शब्दों की अर्थ-यात्रा भी करलें कि—'मैंने किसी के अधिकार का अपहरण तो नहीं किया? कि मैंने किसी के हितों पर कुठाराघात तो नहीं किया? कि मैंने किसी का शोषण तो नहीं किया?'

आत्मचिंतन के दर्पण में हम यह देखें कि जो गड्ढे हम दूसरों के लिए खोदते हैं, एक दिन वे ही हमारी कब्र बन जाते हैं। इसलिए यह विशुद्ध भावधारा—'सर्वे भवन्तु सुखिनः'—हममें सदा प्रतिबिंबित रहे। जो व्यापारी या व्यवसायी इस चिंतन की त्रिपथगा में अभिष्नात होते हैं, उनके मन में कोई वितृष्णा या लिप्सा घुसपैठ नहीं करती। वे तो बस यही सोचते हैं—

सांई इतना दीजिए जा में कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं साधु न भूखा जाय।।

इस भावना से अपने-आप को भावित करने के लिए जैन श्रावक-आचार में वर्णित बारह व्रतों में अंतर्निहित छठे दिग्व्रत की साधना-आराधना करता है। उसके मानस-सागर में श्रावक-प्रतिक्रमण में रचित आचार्य तुलसी की ये स्वर-लहरियां लहराती हैं—

अपर के अधिकार हित का हरण करना हेय है।
इसलिए दिग्गमन का व्रत श्रेय है, आदेय है।
नियत सीमा से परे सोद्देश्य मैं जाऊं नहीं।
व्यर्थ यातायात के श्रम में उलझ पाऊं नहीं।।

इस संदर्भ में एक प्रश्न यह उठ सकता है कि व्यक्ति में व्यासायिक बुद्धि है और उसका सितारा बुलंदी पर है तथा 'इंटरनेट' और 'इलेक्ट्रोनिक' संचार-साधनों के इस युग में उसे प्रतिक्षण इस पार से उस पार तक की सूचनाएं उपलब्ध होती रहती हैं, फिर वह अपनी बुद्धि और क्षमता का उपयोग क्यों न करे? क्यों नहीं अपने सपने को साकार

करे? पूरी दुनिया में अपने कर्तृत्व-कौशल का परचम क्यों न फहराए?

इस परिप्रेक्ष्य में प्रतिप्रश्न यह होगा कि व्यक्ति यह सब क्यों करता है? सुख और शांति पाने के लिए और अपमी आत्म-संतुष्टि के लिए ही तो करता है। जब वह इनके बिना ही उपलब्ध हो सकती है, तब इस तनावपूर्ण और बोझिल प्रक्रिया से क्यों गुजरा जाए? क्यों अनावश्यक आपाधापी, गलाकाट प्रतिस्पर्धा और भागमभाग के बियावान जंगल में भटका जाए? क्यों अपने दिन का सुख और रात की चैन-भरी अपनी नींद को हिरण किया जाए? क्यों राज्य-निषिद्ध कार्य करके अपने पैरों पर कुल्हाड़ी चलाई जाए? क्यों अनावश्यक शत्रुता की परिस्थितियों को आहूत किया जाए? क्यों 'शातिरों' की श्रेणी में अपना नाम दर्ज कराया जाए? क्यों व्यावसायिक प्रभुत्व के विस्तार से उपजने वाली मानहानियों से नाता जोड़ा जाए?

यदि व्यक्ति ठंडे दिमाग से इन सभी पहलुओं पर गहराई से चिंतन करेगा तो श्रावक के छठे व्रत की उपयोगिता स्वतः उसकी समझ में आ जाएगी और उसके कदम श्रावक-संबोध में रचित उन पंक्तियों की ओर बढ़ेंगे, जो उसे सुखी जीवन जीने का नुस्खा बताएंगी, तमस-भरे इस वातावरण में आलोकमयी किरणें बिछाएंगी और 'संयम ही जीवन है' का बोधपाठ देंगी। ❖

यह बहुत पुराना और व्यापक विश्वास है कि इस जगत् का कोई कर्ता है, किसी ने इसे बनाया है। यह देख ही पड़ता है कि बहुत-सी बाधाओं के रहते हुए भी मनुष्य जी रहा है, पशु-पक्षी जी रहे हैं, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, पहाड़, समुद्र सभी बने हुए हैं, अतः जगत् का पालन भी हो रहा है। इस बात के मानने में लाघव होता है कि जो कर्ता है वही पालक है। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि वही एक दिन जगत् का संहार भी करेगा। इस कर्ता-पाता-संहर्ता को ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है अतः उसका ज्ञान अनुमान और शब्द-प्रमाण से ही हो सकता है। जब तक सर्वसम्मत आप्तपुरुष निश्चित न हो जाए तब तक शब्द-प्रमाण से काम नहीं लिया जा सकता। विभिन्न संप्रदायों में जो लोग आप्त माने गए हैं उनका ईश्वर के संबंध में ऐक्यमत्य नहीं है। जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिनि, बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अतः हमको शब्द-प्रमाण का सहारा छोड़ना होगा। अब केवल अनुमान रह गया। ईश्वर की सत्ता में यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई रचयिता होता है इसलिए जगत् का भी कोई रचयिता होना चाहिए। इस अनुमान में कई दोष हैं। हम यदि यह मान लें कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तो फिर वस्तु होने से ईश्वर का भी कर्ता होगा और उसका कोई दूसरा कर्ता, दूसरे का तीसरा। यह परंपरा कहीं समाप्त न होगी। ऐसे तर्क में अनवस्था-दोष होता है। इससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा माना जाए कि ईश्वर को कर्ता की अपेक्षा नहीं है तो फिर ऐसा मानने में क्या आपत्ति है कि विश्व को कर्ता की अपेक्षा नहीं है? फिर ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु कर्तृक होती है, साध्यसम है। सूर्य-चंद्रमा कर्तृक हैं, इसका क्या प्रमाण है? समुद्र और पहाड़ को बनाए जाते किसने देखा है? जब तक यह सिद्ध न हो जाए कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तब तक जगत् का कोई कर्ता है ऐसा सिद्ध नहीं होता।

—डॉ. सम्पूर्णानन्द

सदानंद पुनः राजा को प्रणाम कर बड़ी नम्रतापूर्वक बोला—'महाराज! बस, एक शर्त है। आपको वही करना होगा, जो मैं आपसे करने के लिए कहूंगा। और यह आप बिना किसी विरोध या अपवाद के करेंगे। अन्यथा, मेरी औषधि काम नहीं करेगी और तब आप मेरा सिर काटने का हुक्म नहीं दे सकेंगे। बस, मुझे इतना ही कहना है हुजूर!'

राजा की हालत बहुत खराब थी, इसलिए उसके पास सदानंद की बात मानने के अलावा कोई चारा नहीं था।

अपनी औकात

जलधर मलिक

ढम... ढम... ढम
ढम... ढम... ढम

राजमहल का ढिंढोरची अपनी गति से ढोल पीट रहा था। थोड़ी देर ढोल बजाने के बाद उसने घोषणा करनी शुरू की—

सुनो, सुनो, सब लोग सुनो,
राजा अपना है बीमार,
सही दवा की है दरकार!
जो राजा को ठीक करेगा,
सोना-चांदी जीत सकेगा।
जमकर होगी वाह-वाही,
राजकुमारी से होगी शादी।

ढिंढोरची ने सबको सावधान करते हुए फिर से ऐलान किया—

सुनो, सुनो, सब लोग सुनो,
राजा को ठीक करे इंसान
वह पाएगा बहुत इनाम।
ठीक न किया तो फंस जाएगा
मृत्युदंड वह पा जाएगा।

ढम...ढम...ढम
ढम...ढम...ढम

यह ऐलान क्यों किया जा रहा था? अरे हां! कारण तो था और बहुत उचित भी था। बात राजा की बीमारी की थी। राजा—अचिनपुर का राजा और बीमारी भी कोई साधारण नहीं। यह तो ऐसी बीमारी थी जिसकी दवा राजवैद्य भी नहीं जानता था।

जी हां, जैसा राजा, वैसा रोग। सचमुच राजसी बीमारी थी! राजा और उसके दरबारियों के लिए, बस, यही एक तसल्ली की बात थी। इस बीमारी के कारण राजा बहुत दुबला-पतला नहीं, बल्कि मोटा हो गया था। इतना मोटा कि हाथी को भी मात दे दे।

हालत यह हो गई कि वह अपने सहायकों की मदद से ही उठ-बैठ और लेट पाता था। राजा के चलने-फिरने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। सही भी है! राजा चलेगा क्यों? राजा को क्या जरूरत थी चलने की? ठीक है न? चाहे अधिक खाने की वजह से उसके शरीर पर कितनी भी चरबी क्यों न चढ़ जाए। यह तो राजसी स्वभाव है। यह ठीक है कि कम खाने या सही ढंग से खाने से इस तरह की बीमारी नहीं होती, पर अधिक खाने में जो आनंद है, वह तो नहीं मिलेगा! इसी आनंद के चक्कर में राजा की यह हालत हो गई थी।

ढोल बजा-बजाकर ऐलान इसीलिए किया जा रहा था, ताकि राजा का इलाज किया जा सके। इसी तरह की घोषणाएं पहले भी की जा चुकी थीं, किंतु कोई लाभ नहीं हुआ। कुछ सच्चे चिकित्सक और कुछ नीमहकीम आए और मोटी फीस लेकर चले गए।

राजा की हालत सुधरने के बजाए और बिगड़ गई थी। कोई और रास्ता न जानकर, अब राजकुमारी का विवाह कर देने का भी प्रस्ताव किया गया था। इसका अर्थ यह था कि ठीक करने वाले को राजा के मरने के बाद, राजगद्दी भी अवश्य मिलेगी।

इतने आकर्षक इनाम को पाने की लालसा में अनेक चिकित्सक अपना भाग्य आजमाने आए। उनमें से बहुत-से नीमहकीम थे और कुछ झूठे भी। इन नीमहकीमों और झूठे चिकित्सकों से बचने के लिए इनाम के साथ-साथ कड़े दंड की भी व्यवस्था की गई थी। इसके बावजूद बहुत-से नकली चिकित्सक आए और अपनी जान गंवा बैठे थे। बिना धड़ वाले सात सिर अब राजदरबार की शोभा बढ़ा रहे थे।

इन्हीं सब बातों के कारण लोग ढोल बजने और इसके साथ होने वाली घोषणा पर कोई विशेष ध्यान नहीं दे रहे थे। लेकिन, बेकार ही कुछ मुसीबत न हो जाए, इस डर से प्रजा इन घोषणाओं को ध्यान से सुनने का नाटक करती थी।

❑ ❑ ❑ ❑

एक गरीब किसान सदानंद इन घोषणाओं को सामने आकर सुनने लगा। वह बहुत गरीब और दुखी था। सदानंद के नाम का मतलब होता है, सदा खुश रहने वाला। लेकिन, इस सदानंद के पास खुशियों का अभाव था। उसकी माली हालत कैसी भी हो, उसकी बुद्धिमत्ता और मेहनती स्वभाव की सब तरफ तारीफ की जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था कि वह राजा की बीमारी का असली कारण जानता था। उसने सही औषधि की पहचान भी कर ली थी। सदानंद ने अब इनाम जीतने की योजना बनाई।

सदानंद ने अपनी दाढ़ी-मूंछ बनाना बंद कर दिया। उसे ऐसा करते देख, उसकी मां ने सोचा— 'अरे! लगता है, मेरा बेटा साधु बनने जा रहा है।' इस बात के लिए उसने काफी हल्ला-गुल्ला मचाया। सदानंद भी परेशान हो गया, पर उसने विरोध नहीं किया। उसे डर था कि उसका भेद न खुल जाए।

सदानंद के दोस्त व जानने वाले उसे अच्छी तरह जानते थे। वे समझ गए कि उसके दाढ़ी-मूंछ बढ़ाने के पीछे कोई राज अवश्य है। हो सकता है, कुछ पैसा कमाने के लिए वह अपने दाढ़ी-मूंछ के बाल बेचना चाहता हो। यह सब सोचकर उन्होंने सदानंद की मां को समझाया, 'चाची! चिंता मत करो। हमारा सदानंद ऐसा आदमी नहीं जो आसानी से साधु बन जाए। शायद उसने कोई योजना बनाई है। वह एक पंथ-दो काज करना चाहता है। दाढ़ी-मूंछ बढ़ाने से हजामत का खर्च तो बचेगा ही, साथ ही दाढ़ी-मूंछ के लंबे बालों को बेचने से कुछ पैसे भी मिल जाएंगे। हमारे पड़ोसी राज्य में इन चीजों की बहुत मांग है। अब हम भी अपनी दाढ़ी-मूंछ, बढ़ाने की सोच रहे हैं।' यह सब सुनकर सदानंद की मां ने रोना-धोना बंद कर दिया। सदानंद यह देखकर बड़ी मुश्किल से अपनी हंसी छिपा पाया।

सदानंद की दाढ़ी-मूंछ ने जब सही आकार ले लिया तो एक दिन उसने अपना वेश बदल लिया और सीधा राजदरबार पहुंच गया। उसे देखने से ही लगता था, जैसे वह बहुत प्रसिद्ध वैद्य हो। प्रणाम करने के बाद उसने पलंग पर लेटे राजा को बताया कि वह उनके रोग की सही औषधि के बारे में जानता है।

बिना एक भी शब्द बोले, राजा ने अपनी दाईं उंगली से चांदी के थालों में रखे कटे हुए सिरों की तरफ इशारा किया। इस पर सदानंद ने पुनः राजा को प्रणाम कर कहा—'महाराज! मैं यह सब जानने के बाद भी यहां आया हूं। मैं कोई साधारण वैद्य नहीं हूं। आप चाहें तो मुझे वैद्यराज कह सकते हैं।'

ऐसी प्रशंसा सुनकर राजा ने सदानंद की ओर ध्यानपूर्वक देखा। सदानंद के चेहरे पर डर का नामोनिशान भी नहीं था। वह तो मुस्करा रहा था। इस बात से राजा का विश्वास बढ़ा और इलाज की अनुमति दे दी।

सदानंद पुनः राजा को प्रणाम कर बड़ी नम्रतापूर्वक बोला—'महाराज! बस, एक शर्त है। आपको वही करना होगा, जो मैं आपसे करने के लिए कहूंगा। और यह आप बिना किसी विरोध या अपवाद के करेंगे। अन्यथा, मेरी औषधि काम नहीं करेगी और तब आप मेरा सिर काटने का हुक्म नहीं दे सकेंगे। बस, मुझे इतना ही कहना है हुजूर!'

राजा की हालत बहुत खराब थी, इसलिए उसके पास सदानंद की बात मानने के अलावा कोई चारा नहीं था।

सदानंद ने फिर राजा को अपना इलाज बताया। ज्यादा तो कुछ नहीं, बस महल के मुख्यद्वार से लगभग पांच सौ कदम की दूरी पर स्थित नीम के पेड़ से रोज पांच नीम की पत्तियां तोड़कर लानी हैं। इस बात का भी ध्यान रखना है कि एक बार में केवल एक ही पत्ती तोड़नी होगी। उन पत्तियों को महल के मुख्यद्वार पर लाकर चबाना होगा। इस तरह से रोज नीम की पांच पत्तियां तोड़कर चबाना होगा। और यह काम बिना किसी रुकावट के लगातार तीस दिन तक करना है। सबसे आवश्यक बात तो यह है कि यह काम राजा को खुद ही करना है और किसी की मदद नहीं लेनी है। अन्यथा, कोई लाभ नहीं होगा। वह रोज इस बात की खबर लेने आया करेगा।

प्राण बचाने के लिए राजा ने उसके कहे अनुसार काम करना शुरू कर दिया। राजा के लिए ऐसे निर्देशों का पालन करना अलबत्ता बहुत कठिन था। पहले ही दिन राजा दर्जन-भर दरबारियों की सहायता से किसी प्रकार नीम के पेड़ तक चलकर गया और एक पत्ती तोड़ी, किंतु महल के मुख्यद्वार तक आते-आते वह बुरी तरह से थककर चूर हो गया। उसने दिन-भर विश्राम किया।

अगले दिन सदानंद ने आकर पूछताछ की। उसने राजा को उत्साहित किया और कहा कि बिना निराश हुए उसे यह काम करते जाना है। पंद्रह दिनों बाद राजा ने स्वयं को थोड़ा बेहतर महसूस किया। उसकी चरबी कुछ कम हुई दिखी। अब वह बिना किसी की मदद के चल सकता था।

आश्चर्य! तीस दिन के बाद राजा न केवल चल-फिर सकता था, बल्कि अपने-आप बिना किसी की मदद के उठ-बैठ भी सकता था। अब राजा की खुशी की सीमा न रही। अपने वादे के अनुसार, राजा ने सदानंद को थैला भरकर हीरे व जवाहरात दिए और उसके साथ राजकुमारी के विवाह की तिथि भी निश्चित करने के लिए कहा। सदानंद ने हीरे-जवाहरात तो ले लिए, किंतु राजकुमारी से विवाह के लिए यह कहकर मना कर दिया कि उसके जैसे वैद्य के लिए विवाह करना निषिद्ध है।

यह कहकर सदानंद राज-दरबार से चल पड़ा।

अब क्या था, हजामत बनवाकर, राजा से प्राप्त धन लेकर सदानंद अपने गांव लौटा। सारा गांव उसके लौटने पर बहुत खुश हुआ और लोगों ने जोर-शोर से उसका स्वागत किया। उसकी मां सबसे अधिक प्रसन्न हुई।

सदानंद के मित्रों ने उससे धीरे-से पूछा—'असल माजरा क्या है, दोस्त?'

सदानंद का सीधा-सादा जवाब था—'यह सारी बीमारी आलस्य के कारण थी और कोई बात तो थी नहीं। मैंने राजा को केवल सुबह की सैर करने की सलाह दी थी। बस! यह तरकीब काम कर गई। सभी जानते हैं कि नीम की पत्तियों में औषधि-तत्त्व होते

हैं। इसीलिए किसी को किसी तरह का शक नहीं हुआ।'

इतना सीधा-सादा जवाब सुनकर सभी ठहाका मारकर हंस पड़े।

एक दोस्त ने पूछा—'लेकिन तुमने राजकुमारी के साथ विवाह करने से क्यों मना कर दिया?'

'हर आदमी को अपनी औकात में रहना चाहिए। मुझे अच्छी तरह से मालूम है कि राजघराने में विवाह करने से मैं अपने घर के सदस्यों से अलग हो जाऊंगा और तुम सबसे भी। मैं यह बिलकुल नहीं चाहता।' यह सुनकर सभी ने सदानंद की भूरि-भूरि प्रशंसा की। ❖

उठ गए हो, अब प्रमाद मत करो

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन

भिवानी 13-14-15 अगस्त, 2006

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के तत्त्वावधान में युगप्रधान श्रद्धेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ के सान्निध्य व युवा मनीषी युवाचार्यश्री महाश्रमण के दिशा-निर्देशन में तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन, 2006 का त्रि-दिवसीय आयोजन 13, 14 व 15 अगस्त, 2006 को भिवानी (हरियाणा) में आयोजित किया जा रहा है।

इस सम्मेलन में **महासभा विजन-2007**, संघीय एवं सामाजिक गतिविधियों, महासभा की प्रवृत्तियों व योजनाओं, स्वस्थ समाज की संरचना में सभाओं का दायित्व, कार्यकर्ताओं की सक्षम भूमिका आदि ऐसे अनेक विषयों के संबंध में विभिन्न सत्रों में गहन चिंतन-मनन होगा।

सभी तेरापंथी सभाओं से चार अधिकृत प्रतिनिधि भेजने हेतु सादर निवेदन है, ताकि कुछ सार्थक चर्चाएं एवं ठोस निर्णय किए जा सकें। सभी 'एफिलिएटेड' तेरापंथी सभाओं को उक्त संबंधी परिपत्र तथा पंजीकरण पत्र भेजे जा चुके हैं। पंजीकरण पत्र यथाशीघ्र भरकर महासभा के प्रधान कार्यालय, कोलकाता को प्रेषित करने की कृपा करें, ताकि समुचित व्यवस्था की जा सके।

जागृति है परिलक्षित अब हो नहीं प्रमाद
आगे कदम बढ़ाएं, गूंजे सक्रियता का नाद

राजकरन सिरोहिया
अध्यक्ष

भंवरलाल सिंघी
संयोजक

तरुण सेठिया
महामंत्री

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
(ISO 9001 : 2000 प्रमाणित संस्था)
3 पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001 फोन : 22357956, 22343598, फैक्स : 033-22343666

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए
जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

Whenever You Drink

C.T.C., ORTHODOX & GREEN TEA

Think of us

Kokrajhar Tea Estate
Chikonmati Tea Estate
Daloabari Tea Estate
Banglabari Tea Estate

BIJNI DOOARS TEA COMPANY LIMITED
EASTERN DOOARS TEA COMPANY LIMITED

SHANTINIKETAN, 4th Floor
8, Camac Street, KOLKATA 700017

Consultants, Financiers & Agents :

M/s Panchiram Nahata
177, Mahatma Gandhi Road, Kolkata 700007

प्रेषण दिनांक 28 जुलाई, 06 • Licensed to Post without Pre-Payment Under Licence No. RJ/WR/PP/Bikaner13/2004
जैन भारती, अगस्त, 2006 भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

जागृति है परिलक्षित अब हो नहीं प्रमाद।
आगे कदम बढ़ाएँ, गूंजे सक्रियता का नाद।।

तेरापंथी सभा प्रतिनिधि सम्मेलन - २००६

१३-१४-१५ अगस्त २००६, भिवानी, हरियाणा

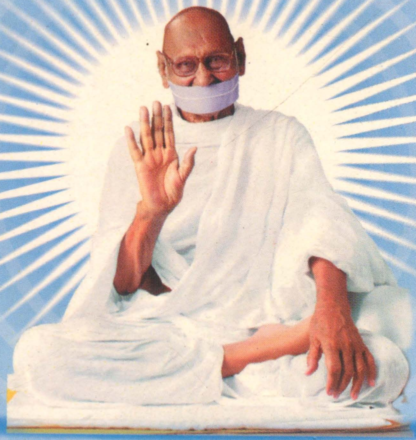

• आचार्य श्री महाप्रज्ञजी का पावन सान्निध्य • युवाचार्य श्री महाश्रमणजी का सामयिक मार्गदर्शन • मातृहृदया साध्वी प्रमुखा महाश्रमणी की दिव्य प्रेरणा • धर्मसंघ की विश्व कल्याणकारी गतिविधियों से जुड़ी समस्त सभाओं को अपने चार प्रतिनिधि अवश्य भेजने का विनम्र निवेदन है • जिन सभाओं ने अब तक पंजीकरण नहीं कराया है, वे तत्काल कोलकाता--महासभा से सम्पर्क करके प्रतिनिधियों का रजिस्ट्रेशन (पंजीकरण) अवश्य करा लें • आयोजन और उपलब्धियों में अभूतपूर्व होगा यह सम्मेलन • सामूहिक चिन्तन की नवीनतम् पद्धति से प्रत्येक प्रतिनिधि के साथ विस्तृत विचार विमर्श करके आगामी वर्षों के लिए महत्वपूर्ण निर्णय लिये जायेंगे • प्रत्येक सभा को सामूहिक और प्रत्येक प्रतिनिधियों को व्यक्तिगत चौतरफा विकास का आश्वासन है।

उट्ठिए णो पमायए
उठ गए हो, अब प्रमाद मत करो

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता–७०० ००१, दूरभाष : २२३५ ७९५६/७२६९, २२३४ ३५९८, फैक्स : ०३३ २२३५ ७२६९

Shreyansh

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।